ISSN 2278 – 1633 ANTIM JAN

अंतिम जन

वर्ष-4, अंक 3, संख्या 38, मार्च 2015

प्रधान सम्पादक
दीपंकर श्री ज्ञान
निदेशक, गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

मानद सम्पादक
डॉ. राजीव रंजन गिरि

सम्पादकीय सहयोग
पंकज चौबे
रीता कुमारी

अक्षर संयोजन
शुभांगी गिरधर

आवरण
सीताराम

रेखांकन
संजीव शाश्वती, सीताराम,
धर्मेन्द्र सुशांत

मूल्य : ₹ 10
वार्षिक सदस्यता : ₹ 100
दो साल : ₹ 200
पाँच साल : ₹ 400

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110 002
फोन : 011-23392710 फैक्स : 011-23392706
ई-मेल : antimjangsds@gmail.com
2010gsds@gmail.com

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नई दिल्ली-110002, की ओर से दीपंकार श्री ज्ञान द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

मुद्रक
दीप कलर स्कैन प्रा. लि., दिल्ली-110095

इस अंक में . . .

राजकुमार शुक्ल

वरिष्ठ साहित्यकार श्री गिरिराज किशोर ने गांधीजी के जीवन पर गहन शोध के उपरान्त एक उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' का सृजन किया है जो गांधीजी के जीवन पर प्रकाशित पुस्तकों की एक कड़ी है। 'अंतिम जन' के इस अंक में हम श्री गिरिराज किशोर के व्याख्यान 'गांधी के गुरु', जिसे विशिष्टता का दर्जा हासिल है, को प्रकाशित कर रहे हैं।

'गांधी के गुरु' का उल्लेख करते हुए श्री किशोर ने रस्किन, गोखले एवं राजकुमार शुक्ल की चर्चा की है। राजकुमार शुक्ल–बिहार के चम्पारण का एक किसान! इन तीनों महानुभावों ने गांधीजी के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। रस्किन की पुस्तक 'अन टु दी लास्ट' ने गांधी को इस प्रकार प्रभावित किया कि उन्होंने इस पुस्तक का 'सर्वोदय' शीर्षक से अनुवाद ही कर दिया। इस पुस्तक की प्रेरणा ने उनके जीवन को किस तरह से प्रभावित किया इसका गांधीजी ने खुद ही बार-बार उल्लेख किया है। गोखले तो उनके राजनीतिक गुरु ही थे जिनसे उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण सलाह-मशविरे किये। दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश वापसी पर वह गोखले ही थे जिनके परामर्श से गांधीजी ने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया तथा देश की वर्तमान वास्तविकताओं से अवगत हुए। इस लम्बे देशव्यापी अध्ययन ने आगे चलकर उनके संघर्ष को नया आयाम दिया। तीसरे गुरु श्री शुक्ल ने चम्पारण के नीलहे कोठी वालों से गरीब किसानों की मुक्ति हेतु गांधीजी के समक्ष बालहठ कर उन्हें चम्पारण से अवगत कराया जो सत्य के प्रयोग की पहली प्रयोगशाला बनी। इसी प्रयोग ने मोहन को सर्वग्राह्य गांधी बना डाला।

1916 में कांग्रेस के ऐतिहासिक लखनऊ अधिवेशन में राजकुमार शुक्ल ने चम्पारण के मजदूर-किसानों एवं उन पर हो रहे अत्याचारों के किस्से बताकर कांग्रेस के बड़े नेताओं से चम्पारण आने का विनीत आग्रह किया था। वे वस्तुत: तिलक को चम्पारण ले जाना चाहते थे परन्तु अपनी अस्वस्थता के कारण जब तिलक ने आमन्त्रण स्वीकार करने में असहजता जाहिर की तो महामना मालवीय जी के सुझाव पर उन्होंने डूबते को तिनके का सहारे की भाँति मोहनदास करमचन्द गांधी से गुजारिश की। भागीरथ प्रयास से वे गांधीजी को चम्पारण लाने में सफल रहे। चम्पारण की दशा ने गांधी की दिशा बदल दी और प्रारम्भ हो गया सत्याग्रह। मोहन से महात्मा तक के सफर का शंखनाद! स्वाधीनता आन्दोलन के इस पुरोधा को आभास हो गया था कि स्वाधीनता के इस संघर्ष में किसानों की भागीदारी के बिना स्वतन्त्रता असम्भव है। इन्हीं कारणों ने सम्भवत: गिरिराज किशोर जी को श्री शुक्ल को गांधी का गुरु मानने की प्रेरणा दी है।

इस अंक में प्रोफेसर राकेश कुमार सिन्हा और बुद्धिधर्मी श्री बागाराम तुलपुले के आलेख आपका ध्यान अवश्य आकृष्ट करेंगे।

विगत समय में पत्रिका का ससमय प्रकाशन न हो पाने का हमें खेद है। हमारी यह कोशिश होगी कि आने वाले समय में पत्रिका ससमय आपके पास पहुँचे।

इस अंक पर आपकी प्रतिक्रिया का हमें इन्तजार रहेगा।

दीपंकर श्री ज्ञान

दीपंकर श्री ज्ञान

आपके ख़त

पत्रकारिता के मानदंड

जनवरी '15 अंक में विमर्श के अन्तर्गत अश्विनी कुमार का आलेख 'सर्वेश्वर की पत्रकारिता' अच्छा लगा। दरअसल उद्धरण देने में लेखक ने अपने सूझ-बूझ का बेहतरीन उपयोग किया है। सर्वेश्वर की पत्रकारिता में गांधीवादी चिन्तन ही परावर्तित होता है। बहुत ही सुन्दर उद्धरण का उपयोग करते हुए अश्विनी कुमार ने लिखा है, 'सर्वेश्वर जी की पत्रकारिता में भी जो चेहरा बनता है वह है—भीड़ का साधारण आदमी, मजदूर, रिक्शाचालक, झुग्गी-झोपड़ीवाला, निरीह औरतें, टुच्चे किस्म के नेता, साहित्य-संस्कृति के कथित ठेकेदार।' अश्विनी कुमार के उक्त लेख में सर्वेश्वर की गांधीवादी चेतना की पुष्टि डॉ. राजीव रंजन के 'अधूरे भाषण की याद में' में गांधीजी के इस कथन से हो जाती है, 'जब तक आप अपने ये जेवरात नहीं उतार देते और उन्हें गरीबों की धरोहर मानकर नहीं चलते, तब तक भारत का कल्याण नहीं होगा।' सर्वेश्वर ने समाज के अन्तिम जन को ही अन्याय, शोषण के विरुद्ध खड़ा करने के लिए कहा है,

'भेड़िए की आँखें सुर्ख हैं!
उसे तब तक घूरो
जब तक तुम्हारी आँखें
सुर्ख न हो जाएँ!'

आज पत्रकारिता का सन्दर्भ और प्रतिमान बदलता जा रहा है या सीधे-सीधे कहूँ तो आज की पत्रकारिता 'जो दिखता है सो बिकता है' के फार्मूले पर चल रही है। इस स्थिति में पत्रकारों को सर्वेश्वर से प्रेरणा लेने की जरूरत है। अश्विनी कुमार ने ठीक ही लिखा है, 'सर्वेश्वरदयाल सक्सेना खबरों के पीछे भागने वाले पत्रकार नहीं थे। वे समाज के एक ऐसे जुझारू पत्रकार थे, जो समाज की हर समस्या पर अपनी पैनी निगाह रखते थे। उनकी पत्रकारिता बदलाव की पत्रकारिता थी। समाज की कल्पना गांधी के सामाजिक सिद्धान्त पर आधारित हो सके, वे इसके लिए भी आन्दोलनरत थे।' दरअसल गांधीवाद का जामा कब और कैसे पहना जाए, ये सभी अवसरवादी जानते हैं, मगर गांधीवाद को समाज में कैसे उतारा जाए, इसकी चिन्ता तो दूर, कोई चर्चा तक भी नहीं करना चाहता। सर्वेश्वर ने ठीक ही लिखा है, 'गांधी और गांधीवाद के नाम पर हर एक का रोजगार चमक रहा है। उनकी समाधि पर फूल चढ़ाकर, सब अपनी फूलों की सेज सजाते हैं।' अश्विनी कुमार ने सर्वेश्वर के बारे में ठीक ही लिखा है, 'सर्वेश्वरदयाल सक्सेना गांधी और उनके सिद्धांतों को लेकर काफी सजग और गंभीर थे।' यहाँ 'सजग' और 'गंभीर' शब्द के सही अर्थों में सर्वेश्वर पर लागू होता है।

'व्याख्यान' के अन्तर्गत प्रभाष जोशी का 'विनाश की ओर बढ़ता विकास' पढ़ा, दूसरी तरफ 'विमर्श' के अन्तर्गत गिरीश मिश्र का 'भूमंडलीकरण का वैचारिक आधार'। गिरीश मिश्र ने भूमंडलीकरण के बारे में ठीक ही लिखा है, 'भूमंडलीकरण कोई नई अवधारणा नहीं है। न ही भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अकस्मात् आ धमकी है।' शोध-शैली में लिखे इस आलेख में गांधीजी के वैश्विक विचार का होना स्वभाविक था, क्यों नहीं है पता नहीं! हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गांधी किसी नेता का नाम नहीं है, बल्कि एक विचारधारा, एक दर्शन का नाम है और इस लिहाज से गांधी शब्द ही अपने आप में 'ग्लोबल' है। 'अधूरे भाषण की याद में-IV' में डॉ. गिरि ने स्वराज और स्वच्छता के बारे में गांधीजी के जिन विचारों को सामने रखा है, वे बेहद मार्मिक हैं। वहीं नागरिक कर्त्तव्य, झूठे दिखावे वगैरह पर गांधीजी के विचार मन की गहराई तक उतर गए।

ब्रजकिशोर झा
एलिट एन्क्लेव, कोलकाता

समरस समाज

'अंतिम जन' का दिसम्बर अंक पढ़ने का अवसर मिला। 'अंतिम जन' पत्रिका निरन्तर मिलती रही, इसकी मैं अपेक्षा करता हूँ। 'अंतिम जन' के सभी अंक अच्छे होते हैं। इसकी अपनी गरिमा है। इसकी भाषा, आवरण और चित्र अच्छे होते हैं, जिससे यह और आकर्षक लगता है।

'अंतिम जन' समाज और देश की सांस्कृतिक झलक प्रस्तुत करता है। अलग-अलग विषयों पर इसके आलेख इसकी खूबसूरती है। समाज में समरसता, भाईचारा को बनाए रखना हम सबकी जिम्मेदारी है। आज हमारे समाज में इसकी कमी आई है। समाज को राह दिखाने की जरूरत है। इस काम को 'अंतिम जन' पत्रिका निरन्तर कर रही है। पत्रिका के

सभी लेखकों और सम्पादक से अनुरोध है निरन्तर सहज, सरल भाषा में लेख पढ़ने को मिलते रहे।

रामाधार
मुजफ्फर नगर, उत्तर प्रदेश

सेवा का अवसर

मैंने 'अंतिम जन' का 2014 संस्करण बहुत शौक से पढ़ा। महात्मा गांधी के शुभ विचारों ने मेरे हृदय को मोम-सा बनाकर देश की सेवा करने का एक शुभ अवसर प्रदान किया। महात्मा गांधी ने बताया है कि शिक्षा के स्तर को बढ़ावा देते हुए गरीबी को दूर करें। मैं बी.ए. तृतीय वर्ष का छात्र होते हुए साथ में प्रतियोगिता परीक्षा संघ लोक सेवा आयोग की आई.ए.एस. भारतीय प्रशासनिक सेवा की तैयारी कर रहा हूँ। मुझे इस पत्रिका का बेसब्री से इंतजार रहता है।

अब्दुल सुब्हान
शहीद नगर, गाजियाबाद

प्रकृति से तालमेल

हिसार के चटर्जी स्मारक पुस्तकालय से 'अंतिम जन' की प्रति ली। फिर आपके यहाँ से सभी प्रकाशित अंक पाने लगा। पाकर लगा कि गांधीजी, विनोबा जी, जयप्रकाश जी के विचारों से पोषित-पल्लवित अंतिम जन आद्योपांत तक रास्ता दिखा रही है; विचारों को उनके यथार्थ और बदलते परिवेश में विभिन्न आयामों को साथ साझा करते हुए।

नवम्बर 2014 अंक पढ़ा। अभय मिश्र ने 'राजजात के बहाने' में पर्यावरण की अनदेखी में प्रकृति के अवांछनीय दोहन को तथाकथित आधुनिक विकास में बाँधों से या सुरंगों से जलविद्युत परियोजनाओं का स्पष्ट खाका खींचा है। पहाड़ के भोले लोग प्रकृति और सरकार के बीच ठगे खड़े हैं। एक ओर आर्थिक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्पराओं का ध्वस्तीकरण दूसरी ओर 'ऊँट के मुँह में जीरा' जैसे मुहावरा फिर अकल्पनीय विस्थापन की मार। जिनमें जड़ी-बूटियों से लेकर खेती-अनाज-फलादि-भेड़-बकरी और अपना गाँव सभी खोने का असहनीय दर्द, जिसे वे नियतिवाद के नाम पर सोचने को विवश हो जाते हैं। उनके विरोध में 'खीझ' ज्यादा रहती है।

मुझे स्मरण है पौड़ी गढ़वाल में लैंसडाउन के पूर्व में बहती मधुगंगा तट/फाट पर 70 के दशक की वे दृश्यावलियाँ-जहाँ चाचा बासवानंद जी हर साल बरसात से पहले धान उगाने के लिए एक लम्बा-चौड़ा खेत तैयार करते पूरे हाड़-मांस का जोर लगाकर, किन्तु हाय रे, विधाता...। वह बरसात की बाढ़ में उसी खेत पर खड़ी धान की फसल को काट-काट कर बहाकर तबाही कर देता... बहते हुए खेत लहलहाते धान की फसल को एक ऊँचाई पर से हताशा में देखते चाचाजी की आँखों से दो बूँदें टपक पड़ती और मुँह से बुदबुदाते स्वर...''अच्छा, इस बार भी तूने मन की कर ली-अपने...?'' और लगातार कई सालों मैंने प्रकृति प्रहार से टकराते उनकी उत्कंठा और अदम्य साहस के टकराव को देखा। संघर्ष के दिनों भी पर्वतीय जन में पुन: खड़े होने, डटकर संसाधन जुटाने की हिम्मत-हौसला सम्भवत: प्रकृति का ही पाठ होगा। खैर!

वर्तमान सरकारी विकास की अवधारणा पर ये कितनी विकास/विनाशवादी साबित हुई हैं योजनाएँ-इसकी जीती-जागती तस्वीरें 2013 की जून माह में घटित केदारनाथ-बद्रीनाथ-गंगोत्री-यमनोत्री और कुमाऊँ में पिथौरागढ़ जनपद की चम्पा की रही है-जिन्हें प्राकृतिक प्रकोप से ज्यादा-मानवीय दुष्कृत्यों का परिणाम कहा जा रहा है। युगों से जमें पहाड़ की छाती चीरने का अर्थ है-अवांछित-गर्भपात।

स्त्री विमर्श-में हरियाणा-पश्चिम उत्तर प्रदेश में घूंघट/पर्दा प्रथा आज भी चिंतनीय है। बुर्का प्रथा भी। सच है महज दशमलव एक प्रतिशत महिलाएँ ही विज्ञान, इंजीनियरिंग या समानता में उच्चपदों तक पहुँचने की ओर प्रयासरत हैं। अधिकांश तो गाँव से गाँव तक पर्दे से पर्दे सिमटी/जकड़ी हुई रह जाती हैं। कभी खाप पंचायतों तो कभी इमामों के फतवों के तले। गांधीजी-विनोबा जी के अन्तिम जन तक उनकी आवाज बने 'अंतिम जन' इसी शुभाशंसा के साथ।

आपके सुनियोजित प्रयासों के प्रति साधुवाद! हर अंक वैचारिक सचेतना के स्वर-शब्द मुखरित होते रहें-गांधी जी के सपनों के भारत व ताबीज के साथ नियमित...।

सुशील बुड़ाकोटी 'शैलांचली'
अर्बन एस्टेट, हिसार, हरियाणा

अनूठी पत्रिका

पिछले दो वर्षों से 'अंतिम जन' की नियमित पाठिका हूँ। यह सौभाग्य मुझे अपने पति डॉ. प्रमोद शर्मा की 'गांधी' में गहरी रूचि होने के कारण प्राप्त हुआ है। सचमुच! 'अंतिम जन' साहित्य जगत का वो अनूठा खजाना है, जिसे लूटते हुए मुझे असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। यह पत्रिका गांधी के जीवन की उन छोटी-छोटी बातों तक को भी उजागर करती है, जिन्हें गांधी के ऊपर लिखी ग्रन्थनुमा पुस्तकों में भी नहीं पा सकते। यह नहीं गांधी से जुड़े हर पहलू का इतनी बारीकी

से व्याख्यान केवल 'अंतिम जन' ही कर सकती है।

दूसरे विषय चाहे वो महिला से जुड़े हों या पर्यावरण से, देश के स्वतन्त्रता सेनानी हो या दिग्गज हस्तियाँ, सामाजिक समस्या हो या फिर समसामयिक लेख अपने आप में 'गागर में सागर' वाले मुहावरे को चरितार्थ करते हैं। उत्कृष्ट कविताएँ पत्रिका को बहुत रोचक बनाती हैं। अनूठी कहानियाँ 'अंतिम जन' को रस से सराबोर बनाती हैं। यह पत्रिका न केवल साहित्यकारों को ही बल्कि विद्यार्थी वर्ग के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। शोधकार्य करने वाले छात्रों के लिए यह महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

पत्रिका का आवरण पृष्ठ भी इतना आकर्षक होता है कि उसके अन्दर से भी अनेक विचार कहने-सुनने को उमड़ते हैं। सम्पादकीय में मणिमाला जी के विचार तो प्रभावित करते ही हैं, साथ ही डॉ. राजीव रंजन की रचनाएँ भी प्रशंसनीय होती हैं। संक्षेप में 'अंतिम जन' एक संग्रहणीय पत्रिका है।

मेरा मानना है कि आज के समय में जहाँ इंसान जीवन-मूल्यों से दूर होता जा रहा है वहाँ 'अंतिम जन' जैसी पत्रिका यह एहसास दिलाने में कामयाब हुई है कि गांधीजी के विचारों की प्रासंगिकता आज भी है। उनके विचारों को पुन: आत्मसात करने का वक्त आ चुका है। कितना अच्छा हो कि 'गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति' घर-घर इस अनूठी पत्रिका को पहुँचाए।

उत्कृष्ट हिन्दी भाषा के उपयोग के लिए साधुवाद।

कंचन शर्मा
सहायक अभियन्ता
शिमला समरहिल, हिमाचल प्रदेश

प्रेम-सौहार्द की प्रेरणा

'अंतिम जन' पत्रिका पढ़ने का सुअवसर एक मित्र के घर पर मिला। गांधीजी के बारे में तथा जनसमुदाय के हित से परिनिष्ठित यह पत्रिका पहली नजर में ही मन को भा गयी। हर वर्ग का प्रतिनिधित्व करती यह पत्रिका अपनी उत्कृष्टता व कलेवर के लिए प्रसिद्ध है। मैंने अपने सहयोगियों तथा छात्रों को पढ़ने के लिए प्रेरित किया। वर्तमान में हमारे विश्वविद्यालय के छात्र इसकी सदस्यता के लिए पूछते रहते हैं तथा कुछ लोगों ने तो सदस्यता ले भी ली है। युवाओं की वैचारिकता को श्रेष्ठतम मार्ग पर ले जाती यह पत्रिका सत्य-अहिंसा-प्रेम और सौहार्द की प्रेरणा देते हुए युवाओं को भविष्य के प्रति सजग करती है।

प्रदीप जुगरान
हे.न.ब. केन्द्रीय विश्वविद्यालय
श्रीनगर, पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड

कर्म का मोल

विचारता है व्यर्थ क्यों, तू कर्म कर समर्थ है
न हो रगों में जोश तो विचारना भी व्यर्थ है
तरस न खा परिस्थिति पे, पग बढ़ा परिवर्तन ला
न चाहिए अब सांत्वना, न ही कोई योजना
है वक्त कुछ कर गुजर हवा में न किले बना
गँवा चुका समय बहुत, न एक क्षण भी अब गँवा
किया सहन है अब तलक किन्तु अब बहुत हुआ
युद्ध स्थल समक्ष है, परिस्थिति विपक्ष है
तू निडर रहे, लक्ष्य पे नज़र रहे
कामना करे न तू कि साथ कोई दे तेरा
साथी भी मिलेंगे किन्तु पहले तू ही पग बढ़ा
कर्मभूमि है धरा यहाँ कर्म का ही मोल है
कर्म कर तू कर्म कर, कर्म ही से मोल है।

बिन्दू यादव
हे.न.ब.ग.के. विश्वविद्यालय
परिसर टिहरी, उत्तराखंड

धन की खातिर

अमन की धरा पे अमन सिसक रहा है
पल शूकून का हर एक खिसक रहा है।
खो के खोफ में, रोमा-रोमा आज हर कोई है
सच्चा भी सच को कहते झिझक रहा है।
दोरे गर्दिशे घेरे है, आज यहाँ की भौर को
देखके हालात हर गला हिचक रहा है।
पग-पग बने इस स्वार्थ के साम्राज्य में
कहीं लूट-खसोट, कहीं छीन हक रहा है।
मारा-मारी और सीनाजोरी बढ़ गयी खूब
पाल आग को, आज इन्सां धधक रहा है।
धन की खातिर लगा आज सब दाँव पे है
सरेआम अब बिक ईमान तक रहा है।
बचाने रूसवाई से अपनों को 'अलवरी'
डिल आँसुओं से जख्मों को ढक रहा है।
पल की खबर नहीं, यहाँ कब क्या हो जाये
फिर भी देखो इन्सां सोच कहाँ तक रहा है।
अन्धेरों में भी दिखाता था जो बढ़ते राह
वो हौसला अब 'अलवरी' भर रहा है।

डॉ. जयसिंह अलवरी
सिरुगुप्पा, बल्लारी, कर्नाटक

नैतिक सरोकार

'प्रसंगवश' में 'अधूरे भाषण की याद में' के अन्तर्गत आपका चिन्तन प्रभावित करता है लेकिन दिसम्बर 14 और जनवरी 15 के अंकों में आप 'जल्दबाजी' में दिखे। उल्लिखित प्रसंगों व कथनों को खोलना भी एक सुधी लेखक का साहित्यिक दाय होता है। डॉ. साहब यहाँ मैं उन गम्भीर अध्येताओं की बात नहीं कर रहा हूँ, उन 20-20 शैली के छिन्नमूल युवा पाठकों की बात कर रहा हूँ जो आज बहुलांश हैं।

विषयांतर तो होगा लेकिन मैं विस्तार में जाना चाहूँगा। पूर्वी उ.प्र. के एक पिछड़े जिले बलिया के सुदूर गाँव कोटवा नारायणपुर से मैं आता हूँ। साहित्यिक व्यसन की पूर्ति हेतु कई पत्रिकाएँ डाक से आती रहती है, जिनमें 'अंतिम जन' भी एक है। एक खुले सहननुमा बरामदे में विभिन्न जाति-धर्म के लोगों की विपुल संख्या आपस में वाद-विवाद व संवाद करती हुई, सुबह से शाम तक विराजती है और हाँ, तर्क के अभाव में वे लोग असंसदीय शब्दों में धार लगाना नहीं चूकते।

पठन-पाठन में विरक्ति के कारण गाँवों की स्थिति बदतर है। बैठकबाजों में मुख्य रूप से तीन वर्ग हैं नवसाक्षर, अर्द्धसाक्षर व शब्द साक्षर। डाकिये के हाथ से लगभग छीनने के अन्दाज में ये पत्रिकाएँ लेते हैं लेकिन सिर्फ फोटो व शीर्षक पढ़कर पन्ने उलटते हुए बमुश्किल दो मिनट में उसे एक तरफ रख देते हैं, कभी न पढ़ने के लिए।

ये एक असहज और विचलित करने वाली स्थिति है और इसके लिए मुख्य रूप से मंडल व जिला मुख्यालयों से निकलने वाले कतिपय नामचीन हिन्दी दैनिक पत्रों की अहम भूमिका है। स्थानीयता को जमकर कैश करते हुए ये मसालेदार क्षेत्रीयता को थोक के भाव परोस रहे हैं। स्थानीय खबरों का मुद्रित अतिवाद एक सोची समझी साजिश का हिस्सा है।

'अंतिम जन' के विचारों को अन्तिम जन तक पहुँचाना ही हम सबका नैतिक सरोकार होना चाहिए।

दुर्गाशंकर राय
कोटवा नारायणपुर, बलिया, उ.प्र.

विचार की शुद्धि

'अंतिम जन' पत्रिका गांधीजी के विचारों को समाज में फैलने का काम कर रही है। यह पत्रिका अपने विचार के साथ-साथ रूप-सज्जा से भी अद्‌भुत है। प्रथम द्रष्टया किसी भी व्यक्ति को खींचने का सामर्थ इस पत्रिका की सबसे बड़ी विशेषता लगी। जब मैंने पन्नों को उलटना-पलटना शुरू किया और इसके आलेखों को व लेखकों को देखा तब इससे बँध गया। लगभग मैंने इसके दस-बारह अंक पढ़ें होंगे अब तक।

पहली बात तो मैं इसके धरोहर के अन्तर्गत गांधीजी के विचारों को प्रकाशित करने के लिए धन्यवाद देता हूँ। हर बार इसके अन्तर्गत अलग-अलग बापू के विचार पढ़ने को मिलता है जैसे अहिंसा, शिक्षा, राष्ट्रीयता आदि पर। इस तरह मैंने बापू के विचारों को समझना शुरू कर दिया है। ज्यों-ज्यों यह पत्रिका मैं पढ़ता जा रहा हूँ। मुझमें गांधीजी के विचार को समझने की समझ बढ़ती जा रही है। लोगों को आपके द्वारा प्रकाशित इस स्तम्भ की सबसे ज्यादा जरूरत है।

दूसरा विशेष के अन्तर्गत विभिन्न विद्वानों का आलेख विचारक-शुद्धि का काम करता है। तीसरा व्याख्यान स्तम्भ के अन्तर्गत इस देश के महान बुद्धिजीवियों के विचार जानने को मिलता है। इस आलेखों के अलावा स्त्री-विमर्श, आदिवासी-विमर्श, कविता बच्चों की कहानी आदि बहुत सुन्दर समायोजन होता है। इन तमाम खुबियों के बावजूद इस पत्रिका की सबसे बड़ी कमजोरी देर से मिलना और कभी-कभी ना मिलना है।

आपसे एक विनम्र निवेदन है कि कम-से-कम हमारे शहर के बुक स्टॉल पर भी निरन्तर भेजने की कृपा करें। क्योंकि मैं जब पत्रिका में बारे में लोगों को बताता हूँ तो वे पढ़ना चाहते हैं परन्तु मेरे पास तो सिर्फ एक प्रति होती है अगर उनको दे देता हूँ तो वे वापस नहीं करते। जबकि मैं संग्रह करना चाहता हूँ। आपके इस काम में हमारा भी सहयोग सदा आपको मिलता रहेगा।

अमरजीत झा
मुजफ्फरपुर, बिहार

धारा के विपरीत

'अंतिम जन' के अंक मिलते हैं। आज के समय में अंतिम जन की आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज बन कर रह गई है। मुझे खुशी होती है की यह पत्रिका धारा के विरुद्ध चलकर अंतिम जन का पक्ष सामने रख रही है और उसकी आवाज बुलंद कर रही है। आपकी आवाज के साथ मेरी भी आवाज शामिल है।

प्रो. सदानंद शाही
हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उ.प्र.

राष्ट्रीय शिक्षा

मो. क. गांधी

राष्ट्रीय शिक्षा विषयक मेरे विचारों के सम्बन्ध में अब तक इतनी अजीब-अजीब बातें कहीं गई हैं कि लोगों की जानकारी के लिए यहाँ उनका सिलसिलेवार वर्णन कर देना अप्रासंगिक न होगा।

शिक्षा की वर्तमान पद्धति का सम्बन्ध एक नितान्त अन्यायी सरकार के साथ है, यह दोष तो इसमें है ही किन्तु उसके सिवा भी यह तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण बातों में सदोष है।

(1) यह विदेशी संस्कृति पर आधारित है, देशी संस्कृति का तो इसमें नामोनिशान तक नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है।

(2) यह हृदय और हाथ की संस्कृति पर ध्यान नहीं देती, सिर्फ दिमाग की संस्कृति तक ही सीमित है।

(3) विदेशी माध्यम के द्वारा वास्तविक शिक्षा असमभ्व है।

अब हम इन दोषों की छानबीन करें। पहले पाठ्य-पुस्तकों को ही लीजिए। उनमें ऐसी बातों का अभाव होता है जिनकी जरूरत लड़कों और लड़कियों को अपने घरेलू जीवन में हमेशा हुआ करती है; बल्कि उनमें वे बातें भरी रहती हैं, जिनसे वे बिलकुल अपरिचित होते हैं। पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा लड़का यह नहीं जान पाता कि गृह जीवन में कौन सी बात ठीक है और कौन सी बात अनुचित। उसे ऐसी शिक्षा कभी नहीं दी जाती जिससे उसके मन में अपने पास-पड़ोसियों के विषय में अभियान जाग्रत हो। पढ़ाई-लिखाई में वह जितना ही आगे बढ़ता जाता है वह अपने घर से उतनी ही दूर होता जाता है—यहाँ तक कि अपनी शिक्षा की समाप्ति के दिन तक अपने आसपास वालों से उसका चित्त हट जाता है। गृह-जीवन में उसे आनन्द नहीं आता। गाँवों के दृश्यों का उसके लिए होना न होना बराबर है। उसकी सभ्यता उसे नि:सत्व, जंगली, अंधविश्वासों से भरी हुई और सारे उमली कामों के लिए निकम्मी बताई जाती है। यह शिक्षा इस ढंग से दी जाती है कि विद्यार्थी अपनी परम्परागत संस्कृति से विमुख हो जाए। इतना होने पर भी, आज शिक्षित लोग राष्ट्रीयता से जो पूरी तरह हीन नहीं हो गए हैं, उसका कारण यही है कि उनके दिल में प्राचीन संस्कृति की जड़ इतनी गहरी जम चुकी है कि वह, उसके विकास में बाधा पहुँचानेवाली शिक्षा के द्वारा भी, बिलकुल नष्ट नहीं हो सकती। यदि मेरा वश चलता तो मैं अवश्य ही आज की बहुतेरी पाठ्य-पुस्तकें जलवा डालता और ऐसी पाठ्य-पुस्तकें लिखवाता जो गृह-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली तथा उसके अनुरूप होतीं, जिससे लड़का ज्यों-ज्यों उन्हें पढ़े त्यों-त्यों अपने आसपास के जीवन की ओर अधिक आकर्षित होता जाए और उसमें हिस्सा लेकर उसे प्रभावित करे।

दूसरे, और देशों के विषय में चाहे जैसा हो, भारत में तो, जहाँ 80 फीसदी से भी ज्यादा लोग खेती करने वाले और 10 फीसदी उद्योग-धन्धा करने वाले हैं, केवल साहित्यिक शिक्षा देना और लड़के-लड़कियों को अपने आगे के जीवन में हाथ से काम करने के अयोग्य बना देना एक जुर्म है। मेरी तो बेशक यही धारणा है कि अब चूँकि हमारा अधिकांश समय अपनी रोजी कमाने के उद्योग में जाता है, हमारे बालकों को लड़कपन से ही परिश्रम को गौरव की दृष्टि से देखने की तालीम दी जानी चाहिए। हमारे बालकों को ऐसी शिक्षा हरगिज न दी जाए जिससे वे मेहनत को हिकारत की नजर से देखने लगें। कोई वजह नहीं कि एक किसान का लड़का मदरसे में तालीम पाकर निकम्मा बन जाए और खेतों पर काम न करे। हमारे मदरसों के लड़के हाथ का काम करना घृणित नहीं तो हेय तो समझते ही हैं। यह दु:ख की बात है। इसके सिवा, यहाँ हिन्दुस्तान में, अगर हम यह उम्मीद करें, जैसी कि हमें जरूर करनी चाहिए कि मदरसा जाने योग्य उम्र का हर एक लड़का और लड़की मदरसे जाए तो हमारे पास आज की प्रथा के अनुरूप उनकी शिक्षा के लिए खर्च के साधन नहीं हैं और न करोड़ों माता-पिता उतनी फीस ही देने की स्थिति में हैं जो आज लगाई जाती है। इसलिए शिक्षा को यदि अधिक व्यापक करना हो तो फीस न लगानी चाहिए। मेरा ख्याल है कि आदर्श शासन-व्यवस्था में भी हम 2 अरब रुपए जो कि तमाम मदरसे जाने लायक उम्र के लड़के-लड़कियों की शिक्षा के लिए दरकार हैं, खर्च न कर सकेंगे। इससे यह नतीजा निकलता है कि हमारे बालक जो कुछ शिक्षा ग्रहण करें उसका सारा या अधिकांश भाग वे ''परिश्रम'' के रूप में अदा करें। और ऐसा सार्वत्रिक काम जो फायदेमन्द हो, मेरे ख्याल

में तो हाथ-कताई और हाथ-बुनाई ही हो सकता है। परन्तु मेरे कथन की सिद्धि के लिए यह बात कोई महत्व नहीं रखती कि हम सूत-कताई का ही अवलम्बन करें अथवा किसी दूसरे काम को करें, बशर्ते कि उसमें लाभ होते रहने की गुंजाइश हो। लेकिन बात केवल इतनी ही है कि जाँच करने पर ऐसा ही मालूम होगा कि दूसरा ऐसा कोई धन्धा नहीं है जो कपड़ा बनाने से सम्बन्धित क्रियाओं से बढ़कर अमली और फायदेमन्द साबित हो और जो बहुत बड़े पैमाने पर किया जा सकता हो तथा सारे हिन्दुस्तान के मदरसों में दाखिल किया जा सकता हो।

हमारे जैसे दरिद्र देश में हाथ से काम करने की तालीम से दुहरा काम बनेगा। एक तो उससे हमारे बालकों की शिक्षा का खर्च निकलेगा और दूसरे, वे एक ऐसा धन्धा सीख जाएँगे जिसका वे चाहें तो अपनी जीविका के लिए आगे की जिन्दगी में सहारा ले सकते हैं। ऐसी प्रणाली से हमारे बालक अवश्य ही आत्मावलम्बी होंगे। हम मेहनत-मजदूरी से घृणा करना सीखें, इससे हमारा राष्ट्र जितना कमजोर होगा, उतना किसी और वस्तु से नहीं।

अब मैं हृदय की शिक्षा के सम्बन्ध में एक बात कहना चाहता हूँ। मैं नहीं मानता कि यह पुस्तकों के द्वारा दी जा सकती है। यह तो सिर्फ शिक्षा के प्राणप्रेरक सहवास के ही द्वारा मिल सकती है। और, आरम्भिक तथा माध्यमिक पाठशालाओं में भी, शिक्षा कौन लोग देते हैं? क्या उन पुरुषों और स्त्रियों में निष्ठा और चारित्रिक बल होता है? क्या खुद उन्होंने हृदय की शिक्षा पाई है? क्या उनसे यह उम्मीद भी की जाती है कि वे अपने सुपुर्द किए गए लड़कों और लड़कियों के स्थायी गुणों पर ध्यान रखें? नीची कक्षाओं के मदरसों के लिए मुदर्रिस तजवीज करने का तरीका क्या शील-चारित्र्य के विकास के लिए एक बड़ी भारी बाधा नहीं है? क्या शिक्षक गुजर-बसर के लायक तनख्वाह पाते हैं? और यह बात तो हम जानते ही हैं कि प्राइमरी स्कूलों के शिक्षकों का चुनाव, उनमें कितनी देशभक्ति है इसे देखकर नहीं किया जाता है। वहाँ तो सिर्फ वे ही लोग आते हैं जिनकी रोटी का सहारा कहीं दूसरी जगह नहीं होता।

अब रही शिक्षा के माध्यम की बात। इस विषय पर मेरे विचार इतने विदित हैं कि यहाँ उनके दुहराने की जरूरत नहीं। इस विदेशी भाषा के माध्यम ने लड़कों के दिमाग को शिथिल कर दिया है और उनकी दिमागी शक्तियों पर अनावश्यक बोझ डाला है। उन्हें रट्टू और नकलची बना दिया है। मौलिक विचारों और कार्यों के लिए अयोग्य कर दिया है और अपनी शिक्षा का सार अपने परिवार वालों तथा जनता तक पहुँचाने में असमर्थ बना दिया है। इस विदेशी माध्यम ने हमारे बच्चों को अपने ही घर में पूरा-पक्का परदेशी बना दिया है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का यह सबसे बड़ा दु:खान्त दृश्य है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम ने हमारी देशी-भाषाओं के विकास को रोक दिया है। यदि मेरे हाथ में मनमानी करने की सत्ता होती तो मैं आज से ही विदेशी भाषा के द्वारा अपने देश के लड़के-लड़कियों की पढ़ाई बन्द करवा देता, और सारे शिक्षकों और अध्यापकों से यह माध्यम तुरन्त बदलवाता या उन्हें बरखास्त करा देता। मैं पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी का इन्तजार न करता। वे तो परिवर्तन के पीछे-पीछे चली आएँगी। यह खराबी तो ऐसी है, जिसके लिए तात्कालिक इलाज की जरूरत है।

विदेशी माध्यम के मेरे इस अटल विरोध के कारण ही लोग मुझ पर यह अनुचित आरोप मढ़ते हैं कि मैं विदेशी संस्कृति के या अंग्रेजी भाषा पढ़ने के खिलाफ हूँ। 'यंग इण्डिया' में अक्सर मैंने यह विचार प्रतिपादित किया है कि मैं अँग्रेज को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार और कूटनीति की भाषा मानता हूँ और इसलिए उसके ज्ञान को हममें से कुछ लोगों के लिए आवश्यक समझता हूँ। 'यंग इण्डिया' के पाठकों की नजर से यह गुजरा ही होगा। मैं यह जरूर मानता हूँ कि अंग्रजी भाषा में साहित्य की और विचारों की अत्यन्त समृद्ध निधियाँ प्राप्त है। अतएव जिन लोगों को भाषा की ईश्वरी देन हो, उन्हें उसके सूक्ष्म अध्ययन के लिए मैं अवश्य ही उत्साहित करूँगा और उनसे यह अपेक्षा करूँगा कि वे अपने देश के लिए उसकी ज्ञान-राशि को देशी भाषाओं के द्वारा प्रकट करें।

दुनिया से अलहदा रहने या उसके और अपने बीच दीवार खड़ी करने की बात तो मैं कदापि नहीं कहता। यह तो मेरे विचारों से बड़ी दूर भटक जाना है। परन्तु हाँ, यह मैं जरूर अदब के साथ कहता हूँ कि दूसरी संस्कृतियों के गुण का ज्ञान और मान अपनी निजी संस्कृति के गुण के ज्ञान-मान के पीछे तो अच्छी तरह चल सकता है, पर आगे कभी नहीं। मेरा तो यह निश्चित मत है कि दुनिया में किसी संस्कृति का भण्डार इतना भरा-पूरा नहीं है जितना कि हमारी संस्कृति का है। हमने उसे जाना नहीं है, हम उसके अध्ययन से दूर रखे गए हैं और उसके गुण को जानने और मानने का मौका हमें नहीं दिया गया है। हमने तो उसके अनुसार चलना करीब-करीब त्याग ही दिया है। बिना आचार के कोरा बौद्धिक-ज्ञान वैसा ही है, जैसा कि मोमिया लगाया हुआ मुर्दा। वह देखने में तो शायद सुन्दर दिखाई देता है परन्तु उसमें स्फूर्ति या प्रेरणा देनेवाली कोई भी बात नहीं। मेरा धर्म मुझे यह आज्ञा नहीं देता कि मैं दूसरे की संस्कृति को तुच्छता या अनादर की दृष्टि से देखूँ; उसी तरह वह इस बात पर भी जोर देता है कि मैं खुद अपनी संस्कृति को भी मानूँ और उसके अनुसार चलूँ, क्योंकि ऐसा न करने का अर्थ सामाजिक दृष्टि से आत्महत्या कर लेना होगा।

यंग इण्डिया 1.9.1921

गांधी वांगमय से साभार

गांधीजी के गुरु

गिरिराज किशोर

मैं मुम्बई सर्वोदय मंडल का आभारी हूँ कि मुझ जैसे सामान्य लेखक को बापू के भारत-आगमन की शताब्दी के इस वरेण्य अवसर पर हिराबाग, टंक परिसर में बोलने का अवसर दिया, जहाँ बापू ने भारत आने के पाँच दिन बाद बम्बई के नागरिकों के समक्ष, 100 वर्ष पूर्व, पहला भाषण दिया था। यह वही पवित्र स्थान है जहाँ मुझ जैसा अदना व्यक्ति बापू के अपरिमित सम्मान के सूर्य को दीपक दिखाने की धृष्टता करने का साहस कर रहा है। मैं डॉ. उषा ठक्कर, सुश्री उषा गोकाणी, मुम्बई सर्वोदय मंडल के मैनेजिंग ट्रस्टी आदरणीय टीआरके सोमैया, मंडल के अध्यक्ष जयंत दिवान, भारतीय विद्या भवन के अध्यक्ष श्री एच एन दस्तूर, विचारक रामदास भटकल, एवं डॉ. श्री रामजाधव का अभिनन्दन करता हूँ, जो ऐसे समय में गांधी विचार और कर्म को आगे बढ़ाने में सक्रिय हैं। यह गांधी चिन्तन के लिए परीक्षा का समय है।

सबसे पहला सवाल किसी के भी सामने यही उठता है कि मोहनदास करमचंद गांधी लन्दन से बैरिस्टरी पास कर लेने के बाद दक्षिण अफ्रीका क्यों गए? आज देश का हर नौजवान अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि क्यों जाना चाहता है? शायद इसलिए कि उसे काम और सम्मान चाहिए। गांधी गुजरात में लगभग अर्ध-बेरोज़गार थे। वे झूठ का सहारा न लेने के कारण और कोर्ट के लिए आवश्यक वाचालता के अभाव में, अदालतों में की जाने वाली पैरवी में नितान्त असफल हो गए थे। अपने बड़े भाई लक्ष्मीदास की मदद से दूसरे वकीलों के लिए ब्रीफ, मेमोरेंडम, और प्लेंट आदि लिखकर तीन सौ रुपया महीना कमा लेते थे, जो दोनों जेठों पर निर्भर रहने वाली कस्तूर के लिए बहुत थे। वह अब दूसरों के लिए भी ख़र्च कर सकती थीं। लेकिन मोहनदास को घुटन होती थी। जो वकील काम भेजते थे, वे कमीशन चाहते थे, जिसे वे भ्रष्टाचार की श्रेणी में गिनते थे। इस बात को लेकर बड़े भाई लक्ष्मीदास और उनके बीच तनाव रहता था। लक्ष्मीदास उसे प्रोफेशन का हिस्सा मानते थे, मोहनदास अनैतिक। अन्तत: लक्ष्मीदास ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीय मूल के एक बड़े व्यवसायी दादा अब्दुल्ला के बड़े भाई से कहकर 105 रुपये एक साल के गिरमिट यानी अनुबंध पर, दक्षिण अफ्रीका भेजने का प्रबन्ध कर दिया। वह न आज के बी. टेक, और बिजनेस मैनेजमेंट के स्नातकों को मिलने वाले लाखों, करोड़ों डालरों का पैकेज था और न कोई सम्माजनक काम था। दरअसल दादा अब्दुल्ला का अपने एक रिश्तेदार तैयब सेठ के साथ चालीस हजार पौंड का मुकदमा चल रहा था, जिसमें मि. बेकर दादा अबदुल्ला के वकील थे। मोहनदास गुजराती में उपलब्ध दस्तावेजों को बेकर को कानूनी ढंग से समझाने के लिए बुलाये गये थे। एक बैरिस्टर के

तीसरे गुरु के बारे में लोग जानते भी नहीं होंगे, और उस व्यक्ति को शायद उनका गुरु मानने में भी संकोच हो। वैसे वह व्यक्ति स्वयं उनकी शरण में गया था। उसने ही उन्हें किसानों की वास्तविक दुर्दशा से अवगत कराकर, उनका त्राता बनने का अवसर दिया। यह व्यक्ति जिसको मैं तीसरे गुरु के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ वह चम्पारण के एक किसान राजकुमार शुक्ल थे।

लिए यह काम बहुत छोटा था। पर वे दो बातों को लेकर संतुष्ट थे। एक, पोरबंदर और राजकोट की अदालतों में व्याप्त भ्रष्टाचार से मुक्त हो गए थे। दूसरे, साल भर का 105 रुका मेहनताना परिवार के काम आ गया था। मोहनदास के गिरमिट में भी वही सब शर्तें थीं जो सामान्य गिरमिटिया पर लागू होती थीं, यानी खाना, रहना, पहनना सब मालिक की जिम्मेदारी थी। अन्तर इतना था कि गिरमिटिया को 10 पौंड मिलता था और अनुबन्ध का समय पाँच साल था। मोहनदास का बाहर जाने और रहने आदि का इंतजाम दादा अबदुल्ला के ज़िम्मे था। सवाल है कि एक बैरिस्टर इतनी कम पगार पर, इतना छोटा काम करने के बावजूद क्यों संतुष्ट था? शायद इसलिए कि वे किसी भी काम को छोटा नहीं समझते थे, यदि उसमें स्वतन्त्रता और ईमानदारी हो। दूसरी बात छोटे काम में बड़ी सम्भावना देखने की कोशिश करते थे। इस मुकदमें में भी उन्होंने एक प्रयोग किया। बेकर जैसे बड़े वकील के रहते हुए उन्होंने मुकदमे को सेठ तैयब से बात करके दादा अबदुल्ला और तैयब के मित्र हाजी सेठ को सालिस बनाकर निष्पक्ष फैसला कराया और अपनी इस मान्यता को साबित किया कि वकील और कचहरियों के बिना भी सही फैसले सम्भव हो सकते हैं। जिस बात का उन्होंने प्रकारांतर से हिन्द स्वराज में उल्लेख आक्रमक ढंग से किया है। उनका मानना था 'वकील वह है जो सत्य और सेवा को सर्वोपरि माने।' लगभग तैंतीस हजार डालर का चिट्ठा तैयब सेठ की तरफ निकला। तैयब सेठ भी जानते थे कि इतना पैसा भुगतान करके कोई व्यवसायी जीवित नहीं रह सकता। मोहनदास ने उस वक्त दादा अब्दुल्ला को किश्तों में भुगतान लेने के लिए तैयार करके तैयब सेठ को पुनर्जीवन दे दिया। वकील हराने या जिताने का काम नहीं करता, बल्कि उसे उसके तार्किक निर्णय तक पहुँचाता है। यह बात उन्होंने उस समय भी साबित की थी, जब भारतीय मजदूरों की बस्ती में काली प्लेग, सोने की खानों में रहने वाले कालों की बस्ती से आकर फैली थी, और जोहान्सबर्ग की म्युनिसपेलिटी ने भारतीय गिरमिटियों की बस्ती में आग लगवा दी थी। मोहनदास ने अपना पैसा लगाकर उनका मुकदमा लड़ा था और जीतने पर अदालत ने जो वकील की फीस तय की थी, उसका आधा ही उन्होंने स्वीकार किया था। यह अहिंसा का व्यावसायिक पक्ष था। अहिंसा का प्रयोग सत्य की रक्षा के लिए करते हैं, व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं। 'इंडियन ओपिनियन' की आर्थिक हालत कमजोर थी। इसलिए उन्होंने अदालत से निर्धारित मेहनताने का आधा लिया था। वे नहीं चाहते थे कि अखबार बन्द करके भारतीय समाज और सरकार से संवाद समाप्त हो जाए। राजनीति में संवाद के महत्त्व को वे अच्छी तरह समझते थे। आज अहंकार और संवाद के बीच छत्तीस का रिश्ता है। यही कारण है राजनीतिक पार्टियों में संवाद की स्थिति खत्म होती जा रही है।

बापू के जीवन में झाँका जाए तो उनके सबसे पहले दो गुरु थे, उनकी माँ पुतलीबा और पिता कर्मचन्द। माँ से उन्होंने सत्य, त्याग और संयम सीखा। पास आकर धार्मिक मुद्दों पर चर्चा करने वाले पारसी, मुस्लिम, ईसाई और हिन्दू धर्म के धर्मगुरुओं के विमर्श से धर्मों का मर्म जाना। यही कारण है कि मोहनदास ने बचपन से अपने धर्म से प्रतिबद्ध रहने के बावजूद दूसरे धर्मों का समान आदर करना सीखा।

बापू के जीवन में झाँका जाए तो उनके सबसे पहले दो गुरु थे, उनकी माँ पुतलीबा और पिता कर्मचन्द। माँ से उन्होंने सत्य, त्याग और संयम सीखा। बापू के पास आकर धार्मिक मुद्दों पर चर्चा करने वाले पारसी, मुस्लिम, ईसाई और हिन्दू धर्म के धर्मगुरुओं के विमर्श से धर्मों का मर्म जाना। यही कारण है कि मोहनदास ने बचपन से अपने धर्म से प्रतिबद्ध रहने के बावजूद दूसरे धर्मों का समान आदर करना सीखा। उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में स्पष्ट कहा, यह देश किसी एक धर्मावलम्बी वर्ग का नहीं, सब धर्मों का है।

मैं यहाँ तीन घटनाओं का संक्षिप्त उल्लेख करना चाहता हूँ। 1909 में मदनमोहन मालवीय ने कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में निम्नलिखित बात कही थी। मालवीयजी हिन्दू महासभा के संस्थापकों में से भी थे।

'I wish that under guidance of a benign providence feelings of patriotism, brotherliness will continue to increase, among Hindu, Mohammadans, Christians and Parsees.'

जिस दिन गांधीजी की हत्या हुई उसी दिन, उन्होंने श्यामा प्रसाद मुखर्जी के पास प्यारेलालजी को सन्देश लेकर भेजा था कि हिन्दू महासभा का एक कार्यकर्ता कांग्रेसी नेताओं की हत्या के लिए उकसाने वाले भाषण दे रहा है, वे अपने प्रभाव का इस्तेमाल करके क्या उसे रोक सकते हैं? लेकिन डॉ. मुखर्जी का उत्तर पंगु और निराशाजनक था। प्यारेलालजी ने इस घटना का उल्लेख किया है। मालवीयजी की उपरोक्त मान्यता से यह उत्तर एकदम भिन्न था।

इसी तरह की एक घटना के बारे में मैंने पढ़ा था कि एक

ही मंच से गोलवलकरजी ने गांधीजी के लिए कहा था कि गांधीजी देश के महान हिन्दू हैं। गांधीजी जब बोलने खड़े हुए तो उन्होंने कहा कि मैं हिन्दू हूँ, पर ऐसा हिन्दू हूँ जो सब धर्मों को समान समझता है। आश्चर्य है कि हिन्दूवाद के कट्टर समर्थक न मालवीयजी की बात को महत्त्व देते हैं और न गुरु गोलवलकर की बात पर विश्वास करते हैं। गांधीजी की हत्या हिन्दू कट्टरवाद के चलते की गयी। उन्होंने पाकिस्तान को पचपन करोड़ रुपया दिलवाया था। क्यों दिलवाया था? क्योंकि बँटवारे के वक्त भारत ने पाकिस्तान को पचपन करोड़ रुपया देना स्वीकार किया था। सरकार वायदे से पीछे हटती तो विश्व भर में नये-नये आजाद हुए भारत की साख़ गिर जाती। बापू फरवरी 1948 में पाकिस्तान इस लिए जाने वाले थे कि दोनों देश में सौहार्द बने। जिन्ना भी चाहते थे। गांधी की इस दूरदर्शिता को समझे बिना ही हत्या कर दी गई। आज हत्या करने वाले को, जिसका कारण मात्र अदूरदर्शिता और नफरत थी, महामंडित किया जा रहा है। बिना यह जाने कि वे अदूरदर्शिता और नफरत को पूज कर, आने वाली पीढ़ी को भ्रमित कर रहे हैं। महाराष्ट्र जैसे प्रबुद्ध प्रदेश को इस पर गहनता से विचार करना पड़ेगा, आज नहीं तो कल।

गांधी के तीन गुरु और थे। एक रस्किन जिनकी पुस्तक 'अनटु द लास्ट', उनके साथी पोलक ने जोहान्सबर्ग के स्टेशन पर, चलती गाड़ी में उनके हाथ में दी थी। उस किताब ने उनका जीवन-दर्शन बदल दिया था। गांधी दूसरों से सीखने में सदा तत्पर रहते थे, यहाँ तक कि उन्होंने डॉ. आम्बेडकर से भी सीखा। दूसरे, गोपालकृष्ण गोखले थे। उन्होंने देश की राजनीति में सक्रिय योगदान देने के लिए उन्हें सदा प्रेरित किया। दक्षिण अफ्रीका की एक महीने की यात्रा समाप्त करके, विदा होते समय, यही वाक्य कहा था कि तुम एक साल में भारत आकर कांग्रेस के काम में जुट जाओ। मैं कोई बहाना नहीं सुनूँगा। तीसरे गुरु के बारे में लोग जानते भी नहीं होंगे, और उस व्यक्ति को शायद उनका गुरु मानने में भी संकोच हो। वैसे वह व्यक्ति स्वयं उनकी शरण में गया था। उसने ही उन्हें किसानों की वास्तविक दुर्दशा से अवगत कराकर, उनका त्राता बनने का अवसर दिया। गोखले ने भी उन्हें राजनीति में आने से पूर्व पूरे भारत को जानने का निर्देश दिया था। ख़ैर, यह व्यक्ति जिसको मैं तीसरे गुरु के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ वह चम्पारण के एक किसान राजकुमार शुक्ल थे। वह तीन बार उनसे मिलने कांग्रेस अधिवेशनों में गये। दो बार तो उन्होंने टरका दिया। तीसरी बार वे केवल यह देखने गये कि वहाँ नील के किसानों की क्या स्थिति है। उनका आन्दोलन करने का कोई इरादा नहीं था। राजकुमार कोई सामान्य व्यक्ति नहीं थे। तब भारत में और खासकर चम्पारण में मोहनदास को कौन जानता था। लेकिन जब वह उन्हें लेकर पहुँचा तो स्टेशन पर इतनी भारी भीड़ का होना यह साबित करता है कि उसकी जनमानस में कितनी गहरी पैठ थी। वहाँ आने के बाद गांधी, वहीं के हो गये। जब तक निलहों के द्वारा बनाये दमनात्मक कानून नहीं बदले, वे वहाँ से नहीं हिले। बाद में कस्तूरबा को भी उस आन्दोलन में हिस्सेदार बना लिया। मैं मानता हूँ गोखले जैसे महान व्यक्ति ने जिस तरह गांधी को देश के भविष्य का नायक चुना था, वैसे ही राजकुमार ने गांधी को पहचाना था कि वे ही चम्पारण के किसानों को शोषण से मुक्ति दिला सकते हैं। आश्चर्य है कि गांधी को असली भारत का दर्शन कराकर वे चले गये। किसी ने जानने की कोशिश नहीं की राजकुमार, गांधी को देश के जन के दुःख-दर्द से जोड़कर कहाँ अन्तर्ध्यान हो गये।

कस्तूरबा पहली भारतीय महिला थी जो सत्याग्रह करके दक्षिण अफ्रीका में जेल गयी थीं। बापू ने ही उन्हें प्रेरित किया

था कि महिलाओं के लिए तुम्हें जेल जाना होगा। भारत में भी वे पहली महिला थीं जिन्होंने चम्पारण के किसान आन्दोलन के प्रति महिलाओं को जागरूक किया था। बच्चे गन्दे रहते थे, स्त्रियों के पास पहनने को कपड़े नहीं थे। वे उन्हें नदी के किनारे ले गयीं। महिलाओं से पहले बच्चों के कपड़े धोने के लिए कहा फिर उन्हें दो वर्गों में बाँटा। एक वर्ग पहले नदी के जल में गर्दन तक उतरा और अपने कपड़े धोये। दूसरा वर्ग बच्चों को देखता हुआ, गाँवों की महिलाओं के सामने पर्दे की तरह बना रहा। फिर यही काम दूसरे वर्ग ने किया। सवाल यह है कि कस्तूरबा ने एक गृहिणी होकर आन्दोलन की इन बारीकियों को कैसे सीखा। शायद यही समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह था। उनका दूसरा बेटा ग्रमीणों का पढ़ाता था। सब झोपड़ियों में रहते थे।

कस्तूरबा पहली भारतीय महिला थी जो सत्याग्रह करके दक्षिण अफ्रीका में जेल गयी थीं। बापू ने ही उन्हें प्रेरित किया था कि महिलाओं के लिए तुम्हें जेल जाना होगा। भारत में भी वे पहली महिला थीं जिन्होंने चम्पारण के किसान आन्दोलन के प्रति महिलाओं को जागरूक किया था। बच्चे गन्दे रहते थे, स्त्रियों के पास पहनने को कपड़े नहीं थे। वे उन्हें नदी के किनारे ले गयीं। महिलाओं से पहले बच्चों के कपड़े धोने के लिए कहा, फिर उन्हें दो वर्गों में बाँटा।

पीटरमेरिट्ज़बर्ग में फर्स्ट क्लास से बाहर फेंक दिए जाने वाली घटना ने जिस प्रकार मोहनदास का जीवन बदल दिया था, वैसे ही राजकुमार शुक्ल ने गांधी को चम्पारण लाकर उनका तन मन बदल दिया था। दक्षिण अफ्रीका में तो बीस साल तक लड़कर भारतीय गिरमिटियों पर लगाये गये प्रतिरोधी कानून बदलवा दिये थे। चम्पारण में भी उन्होंने नीलहों के बनाये क़ानून बदलवा दिये थे। लेकिन किसानों के प्रति अपने सरोकारों को आजादी के बाद बनी अपने देश की सरकार में क्रियान्वित कराने में नाकाम रहे। उन्होंने 1945 में भारत के प्रधानमन्त्री को लिखा था, अब समय आ गया है जब हमें ग्रामोद्धार की दिशा में काम करना चाहिए। वे सत्ता के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे। वे उन्हें आत्मनिर्भर देखना चाहते थे। नेहरू का जवाब था, गाँव स्वयं पिछड़े हुए हैं, अज्ञान के अँधेरे में हैं, वे देश को क्या रोशनी देंगे। गाँव आज तक नहीं बढ़ पाये। गाँवों को पीछे धकेलने की स्थिति, बताते हैं, नयी सरकार द्वारा जमीन अधिग्रहण अध्यादेश के कारण पहले से भी अधिक विषम हो जाएगी। गांधीजी का 'हिन्द स्वराज', जिसे बाइबिल के बाद दूसरा ग्रन्थ बताया जाता है, पहले की तरह उपेक्षित रह जाएगा। किसान से बिना पूछे उसकी जमीन पर अधिकार कर लेना तानाशाही की तरफ बढ़ने वाले कदम की तरह देखा जा रहा है। अब तो विदर्भ और बुन्देलखंड में किसानों की आत्महत्याएँ हो रही हैं, कहीं यह महामारी दूसरे राज्यों में न फैल जाए। ज़मीन का सौभाग्य किसान से है। वह देश की रीढ़ है। वह टूटी तो देश कहाँ बचेगा। गांधी इस बात को जानते थे। जल, जंगल और जमीन खतरे में पहले भी थे, आज और भी ज्यादा है।

अन्त में यह बात कहकर लम्बा वक्तव्य समाप्त करूँगा, अहिंसा की कसौटी है हिंसा का सामना, अहिंसा से करने की सामर्थ्य अर्जित करना। गांधी ने इसे अर्जित कर लिया था। दक्षिण अफ्रीका में अनेक बार उन्होंने हिंसा का सामना अहिंसा से किया था। मैं पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि अगर बापू गोली लगने के बाद बच गये होते तो वे अपने कातिल को क्षमा कर देते।

देहरादून उत्तराखंड के भाई धीरेन्द्रनाथ तिवारी के द्वारा पता चला कि गांधीवादी विचार और उनके जीवन के निष्कर्षों की महान पुस्तक 'हिंद स्वराज' को केन्द्र में लाने की दृष्टि से 'अंतरराष्ट्रीय हिन्द स्वराज संवाद अभियान (अहिंसा)' की नींव रखी जा रही है। आज जिस प्रकार राजनीतिक मूल्यों का विघटन हो रहा है और हिंसा का साम्राज्य बढ़ रहा है, यही नहीं, गांधीजी का नाम लेकर पूँजीवादी हितों का पोषण किया जा रहा है और ग्रामीण हितों की अनदेखी और उपेक्षा की जा रही है, उससे समाज और देश को 'हिन्द स्वराज' ही बचा सकता है। यही नहीं गांधी-विचार को जन-जन तक पहुँचाने के लिए 'अनिवार हिंसा' नाम से पत्रिका के प्रकाशन का भी विचार है।

(महात्मा गांधी के दक्षिण अफ्रीका से भारत-आगमन की, मुम्बई सर्वोदय मंडल के तत्त्वाधान में आयोजित, शताब्दी के अवसर पर, 13 जनवरी 2015 को हिराबाग, सी.पी. टन्क, गिरगाँव में दिया गया भाषण।

सम्पर्क– मो. 9839214906

प्रौद्योगिकी, उत्पादन और अर्थशास्त्र

प्रो. राकेश कुमार सिन्हा

स्वतन्त्रता के समय से ही भारत की अर्थनीति के निर्धारण में और विशेषकर नयी आर्थिक पहल को रूप और आकार देने में पश्चिमी अर्थशास्त्र में पारंगत अनेक विद्वान भारतीय अर्थशास्त्रियों की विशेष भूमिका रही है। भारत की आर्थिक दुर्दशा का शायद यही सबसे बड़ा कारण है। पश्चिमी अर्थशास्त्र विश्व इतिहास के साम्राज्यवादी दौर की पिछली तीन शताब्दियों में विकसित हुआ है। आधुनिक कहे जानेवाले इस काल के शुरू होने से पहले दुनिया के सबसे उन्नत और समृद्ध देश एशिया और उत्तरी अफ्रीका से थे। कृषि और गैर–कृषि, दोनों क्षेत्रों में उत्पादन का सबसे उन्नत और परिपक्व कौशल भारत के पास था। भारत में उत्पादित माल का व्यापार सारी दुनिया से होता था और हमारे वैभव के किस्से विश्व के दूसरे देशों में कहे जाते थे। भारत पहुँचने और उससे व्यापार करने का आकर्षण इतना तीव्र था कि भारत के लिए समुद्री मार्ग की तलाश में यूरोप के लोगों ने तथाकथित नयी दुनिया की खोज कर डाली। उस समय यूरोप विशेषकर उत्तरी यूरोप विश्व के सबसे पिछड़े हुए इलाकों में था। इंग्लैंड जैसे देश में लूटपाट और अराजकता का बोलबाला था। वहाँ के राजकोष का एक बड़ा हिस्सा लूट से ही आता था।

पिछले तीन सौ वर्षों के साम्राज्यवादी इतिहास ने सब कुछ उलटकर रख दिया है। विश्व के यूरोप–केन्द्रित देशों का विकास और एशिया एवं अफ्रीका के देशों का बढ़ता दरिद्रीकरण साथ–साथ चले हैं। इस पूरे बदलाव में प्रौद्योगिकी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पश्चिमी ज्ञानतन्त्र ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी को केन्द्र में रखकर एक व्यापक मिथक गढ़ा है। पश्चिम के विकास को विज्ञान और प्रौद्योगिकी के चमत्कार के रूप में प्रस्तुत किया गया है और यह स्थापित करने की कोशिश की गयी है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास पश्चिमी सामाजिक संरचना, संस्कृति और बौद्धिक परम्परा के अन्तर्गत ही सम्भव है। अफ्रीकी और एशियाई समाज अपने सांस्कृतिक एवं प्रौद्योगिकी पिछड़ेपन के कारण विज्ञान और प्रौद्योगिकी के साथ बढ़ नहीं सकते और इनका विकास पश्चिम के अनुकरण से ही सम्भव है। हमारे देश के विद्वान अर्थशास्त्री अन्धानुकरण की इस मानसिकता से ग्रस्त हैं।

इस वास्तविकता को पहचानना जरूरी है कि हर प्रौद्योगिकी के विकास का एक आर्थिक, सामाजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ होता है और किसी एक समाज में विकसित प्रौद्योगिक अन्य किसी समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल हो, इसकी सम्भावना बहुत कम है। किसी वस्तु के उत्पादन की प्रौद्योगिकी में उत्पादन की प्रविधि, इस प्रविधि में निहित इकाई कार्यों की समझ, इन कार्यों को सम्पादित कर सकने वाले यन्त्र एवं उपकरण तथा उन्हें चलाने का कौशल, ये सभी शामिल हैं। एक ही वस्तु के उत्पादन के लिए एक से अधिक प्रकार की प्रौद्योगिकी हो सकती है, जिसमें उत्पादन के काम

आधुनिक कहे जानेवाले इस काल के शुरू होने से पहले दुनिया के सबसे उन्नत और समृद्ध देश एशिया और उत्तरी अफ्रीका से थे। कृषि और गैर–कृषि, दोनों क्षेत्रों में उत्पादन का सबसे उन्नत और परिपक्व कौशल भारत के पास था। भारत पहुँचने और उससे व्यापार करने का आकर्षण इतना तीव्र था कि भारत के लिए समुद्री मार्ग की तलाश में यूरोप के लोगों ने तथाकथित नयी दुनिया की खोज कर डाली।

में आने वाली मशीनें अलग-अलग प्रकार की और अलग-अलग क्षमता वाली हो सकती हैं। उत्पादन की किसी एक प्रौद्योगिकी के लिए जरूरी मशीनों के प्रकार और क्षमता के अनुसार पूँजी और उन्हें चला सकने के लिए श्रमिकों की जरूरत होती है। प्रौद्योगिकी के स्तर का निर्धारण श्रमिकों की संख्या और कुल उत्पादन के अनुपात अर्थात प्रति श्रमिक उत्पादन के आधार पर किया जाता है। इस अनुपात को श्रम की उत्पादकता कहते हैं। जो प्रौद्योगिकी जितनी उन्नत होती है, उसमें श्रम की उत्पादकता उतनी ही अधिक होती है। पश्चिमी देशों ने पिछले लगभग ढाई सौ वर्षों में लगातार उन्नत होती प्रौद्योगिकी का विकास किया है। इसकी शुरुआत अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुई। इसी को औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति और उससे जुड़ी हुई प्रौद्योगिकी की विकास यात्रा साम्राज्यवाद की देन है। इसलिए आधुनिक पश्चिमी प्रौद्योगिक का मूल चरित्र भी साम्राज्यवादी है। इस प्रौद्योगिकी के विकास की शुरुआत साम्राज्यवादी लूट से एकत्रित पूँजी की सहायता से हुई। इसके विकास का आधार औपनिवेशिक शोषण था‌ अर्थात उपनिवेश के बाजारों से कच्चे माल और दामों की लूट और आज भी पश्चिमी देशों का विकास बाजार के माध्यम से सम्पदा के शोषण के आधार पर ही चल रहा है। लूट के आधार पर विकास की आर्थिक और सामरिक अनिवार्यताओं को समझने के लिए उन्हें सांस्कृतिक श्रेष्ठता का हिस्सा बना कर उनका औचित्य स्थापित करने के लिए और उन्हें विश्व के विकास के आर्थिक नियमों का अनिवार्य हिस्सा बनाकर प्रस्तुत करने के लिए ही आधुनिक पश्चिमी अर्थशास्त्र गढ़ा और विकसित किया गया है। हमारे देश के जो विद्वान पश्चिमी अर्थशास्त्र की परम्परा से दीक्षित होकर उसी की भाषा बोल रहे हैं वे अपने देश के नहीं बल्कि उसके शोषकों के विकास का माध्यम बन रहे हैं।

पश्चिमी देशों ने अपने औपनिवेशिक वर्चस्व का इस्तेमाल कर तीसरी दुनिया के देशों में एक ऐसा वर्ग तैयार किया है जो दिल और दिमाग से पूरी तरह उनका पिछलग्गू है। उनके बताये रास्ते का अन्धानुकरण करने के लिए तैयार है, भले ही इससे उनके अपने देश का ही शोषण क्यों न होता हो। हमारे देश के विद्वान अर्थशास्त्री इसी निहित स्वार्थ वाले वर्ग का मार्गदर्शन करते हैं। स्वाभाविक है कि उनकी बनायी हुई नीतियों को जन समर्थन नहीं मिल पा रहा है। इसी कारण अर्थशास्त्रियों को भारत की लोकतान्त्रिक व्यवस्था से परेशानी होने लगी है और वो कम-से-कम अर्थव्यवस्था को लोकतन्त्र के दायरे से बाहर जाने की बात करने लगे हैं। यह वास्तव में एक आश्चर्यजनक अन्तर्विरोध है क्योंकि जिन देशों से उन्होंने अपना अर्थशास्त्र सीखा है, वहाँ लोकतन्त्र को आर्थिक विकास की आवश्यक शर्त माना जाता है। आर्थिक नीति और लोकतान्त्रिक अनिवार्यताओं के आपसी सम्बन्ध भी देश-काल से जुड़े हुए लगते हैं।

आधुनिक पश्चिमी अर्थशास्त्र की शुरुआत सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुई मानी जाती है, जब यूरोप और भारत के बीच व्यापार शुरू हुए लगभग सौ वर्ष पूरे हो चुके थे। इस दौरान यूरोप के व्यापारी भारतीय माल को यूरोप में बेचकर भारी मुनाफा कमा रहे थे लेकिन यूरोप के पास भारत में बेचने के लिए कुछ भी नहीं था और उसे भारत से होने वाले आयात का भुगतान शुद्ध मुद्रा (सोना और चाँदी)में करना पड़ रहा था। उस समय के व्यापारवादी (मरकेंटाइलिस्ट) यूरोपीय अर्थशास्त्रियों की मुख्य चिन्ता यूरोप से भारत की ओर मुद्रा का पलायन, भुगतान सन्तुलन की समस्या, माँग और आपूर्ति का सवाल और इस पर भुगतान असन्तुलन का प्रभाव आदि को लेकर थी। वे इस बात से परेशान थे कि भारत से आयात अधिक और निर्यात न के बराबर होने से भुगतान का असन्तुलन यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था पर बहुत बुरा असर डाल रहा था और आर्थिक मन्दी पैदा कर रहा था। उन्हीं के दबाब में भारत से आयात पर पाबन्दी लगाने वाले कानून भी बनाये गये।

अँग्रेज व्यापारियों ने भुगतान का सन्तुलन अपने पक्ष में करने का एक नायाब तरीका अपनाया। भारत में उन्होंने अपना सैन्यबल और राजनीतिक प्रभाव बढ़ाना शुरू किया, कारीगरों से उनका सामान बाजार भाव से बहुत कम दरों पर जबरदस्ती खरीदा जाने लगा, भारत के आन्तरिक व्यापार से राजनीतिक प्रभाव के इस्तेमाल से विशेषाधिकार प्राप्त कर भारतीय व्यापारियों से मुनाफा लूटना शुरू किया और अन्तत: राजनीतिक दखलन्दाजी कर भारतीय राजे-रजवाड़ों से भारी मुआवजा भी वसूलने लगे। इस प्रकार भारत को बिना कोई वास्तविक भुगतान किये ही अँग्रेज भारतीय माल का व्यापार कर मुनाफा कमा रहे थे। सैन्यबल से व्यापार का यह तरीका अब पश्चिमी रणनीति का एक अभिन्न अंग बन गया है। प्लासी के युद्ध के बाद हुई भयंकर लूटपाट के बाद भारत से इंग्लैंड भेजे गये खजाने में बंगाल से ही साठ लाख पाउंड उगाहे गये थे। इस लूट से बनी पूँजी से ही इंग्लैंड में बैंकों की संख्या एकाएक बढ़ गयी और आधुनिक बैंक व्यवस्था विकसित हुई। इसी पूँजी के आधार पर विकसित हुई प्रौद्योगिक वहाँ की औद्योगिक क्रान्ति का आधार बनी। इसी के दो दशक बाद आधुनिक पूँजीवाद की स्रोत-पुस्तिका, ऐडम स्मिथ की 'ऐन इन्क्वायरी इन्टु द नेचर एंड नॉलेज ऑफ वेल्थ

ऑफ दी नेशन्स' प्रकाशित हुई। यह पश्चिमी अर्थशास्त्र के विकास का एक नया अध्याय था। इसमें पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के विकास में साम्राज्यवादी लूट से एकत्रित पूँजी की भूमिका का कोई जिक्र नहीं था। इस काल के अर्थशास्त्रियों ने फैक्टरी-व्यवस्था में होनेवाले श्रम के विभाजन को उत्पादकता बढ़ने का मूल कारण बताया और पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था के विकास को एक दिशा दी। फैक्टरी-व्यवस्था के प्रारम्भ के साथ ही उत्पादन के काम से श्रमिक और उसके कौशल से ज्यादा पूँजीपति और प्रबन्धन का महत्त्व बढ़ गया।

यान्त्रिक उत्पादन के बावजूद यूरोप की फैक्टरियों में उत्पादित माल यूरोप के बाजार में भारतीय माल के मुकाबले टिक नहीं पा रहा था। इसी स्थिति से मुक्ति पाने के लिए, एक ओर भारतीय माल पर आयात नियन्त्रण कड़े किये गये तो दूसरी ओर भारत का कच्चा माल जबरदस्ती इंग्लैंड निर्यात किया जाने लगा। कच्चा माल न मिलने से भारतीय कारीगरों के उद्योग-धन्धे ठप हो गये और खाली हो गये बाजार में यूरोप से आयातित माल लादा जाने लगा। यह फैक्टरी और पारम्परिक उत्पादन-विधियों के बीच की स्पर्धा नहीं, बल्कि सैन्यबल से अर्थव्यवस्था के निर्धारण का ही एक रूप था। इस प्रकार देशी उद्योग-धन्धों को धीरे-धीरे बन्द करके कारीगरों को बेरोजगार बना दिया गया। अब उनके पास गाँव की ओर भागने और खेतों में मजदूरी करने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहा। नतीजतन भारतीय कृषि-व्यवस्था पर आबादी का बोझ बढ़ने लगा। भारत की पारम्परिक अर्थव्यवस्था चौपट होने लगी और उसके साथ ही इस अर्थव्यवस्था पर आधारित सामाजिक संस्थाएँ और विभिन्न सेवा-व्यवस्थाएँ, जिनमें पारम्परिक शिक्षा-व्यवस्था भी शामिल है, विकृत और ध्वस्त होने लगी।

दूसरी ओर यूरोप में प्रौद्योगिकी के विकास और उसके साथ-साथ नया अर्थशास्त्र गढ़ने का दौर चला। औद्योगिक क्रान्ति से पहले तक विश्व के सभी हिस्सों में मानव-श्रम की परिस्थितियों को आसान बनाने के लिए पहिये, चर्खी, लीवर आदि सरल उपकरणों का उपयोग होता था, जिनसे मिलने वाले यान्त्रिक लाभ से कम ताकत खर्च कर अधिक काम किया जा सकता था। औद्योगीकरण की प्रमुख बात यह थी कि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए जरूरी काम को मानव श्रम के स्थान पर ऊर्जा के किसी अन्य स्रोत (जैसे वाष्प ऊर्जा) से किया जाने लगा। इसके लिए पहले कोयले जैसे ईंधन को जलाकर, उसे ऊष्मा (ऊर्जा का एक रूप) प्रयोग किये जाने लायक रूप (जैसे वाष्प) में परिवर्तित कर लिया जाता है और फिर उपयोग लायक ऊर्जा को काम में परिवर्तित कर लिया जाता है। (जैसे इंजन चलाना)। इसके लिए एक तो ऊष्मा को वाष्प ऊर्जा फिर इस ऊर्जा को इच्छित कार्य में बदलने के लिए उपकरणों और मशीनों की जरूरत होती थी। दो, मशीनों को चलने के लिए जरूरी मजदूरों को छोड़कर मानव-श्रम की जरूरत समाप्त होती थी। मशीनों के लिए और फिर उत्पादन के समय ऊर्जा के स्रोतों के लिए पूँजी की जरूरत होती थी, लेकिन अब मशीनों की सहायता से एक श्रमिक पहले से बहुत ज्यादा उत्पादन करने लगा। प्रौद्योगिकी के स्वरूप, उसके आर्थिक और सामाजिक चरित्र और समाज की अर्थव्यवस्था तथा सत्ता-व्यवस्था पर इसके असर को समझने के लिए उत्पादन और उसके कारकों, कच्चा माल, ऊर्जा, मानव-श्रम और पूँजी के बीच के सम्बन्धों को, जिन्हें हम उत्पादन के सम्बन्ध कह सकते हैं, समझना बहुत जरूरी है। उत्पादन के सम्बन्धों को यदि हम उत्पाद और लागत ऊर्जा, जिसमें मानव-श्रम भी शामिल है, तथा पदार्थ के आनुपातिक सम्बन्धों के रूप में देखें तो इसे उत्पादन का तकनीकी सम्बन्ध कहा जा सकता है। दूसरी ओर यदि हम लागत को पूँजी तथा श्रम और उत्पाद को उसके आर्थिक मूल्य (बाजार द्वारा निर्धारित) के रूप में देखें तो इनके आनुपातिक सम्बन्धों

को उत्पादन का आर्थिक सम्बन्ध कहा जा सकता है। पश्चिमी अर्थशास्त्र ने उत्पादन के तकनीकी सम्बन्धों पर तो बिल्कुल सोचा ही नहीं है और आर्थिक सम्बन्धों का सिर्फ एक आयामी विश्लेषण किया है। इनकी दृष्टि में प्रौद्योगिकी के चरित्र को केवल श्रम और उत्पाद के अनुपात यानी प्रति इकाई श्रम से होने वाले उत्पादन से निर्धारित किया जाता है। जो प्रौद्योगिक जितनी उन्नत होती है, उसमें श्रम के मुकाबले उत्पादन उतना ज्यादा होता जाता है। इसी से जोड़ कर 'अतिरिक्त उत्पादन' की व्याख्या की गयी है जिसे प्रति श्रमिक उत्पादन एवं प्रति श्रमिक उपभोग के अन्तर के रूप में परिभाषित किया गया है। उन्नत प्रौद्योगिकी में अतिरिक्त उत्पादन भी अधिक होता है। इस पूरी व्याख्या को वैज्ञानिकता का आभास देने के लिए रिकार्डो एवं मार्क्स ने यह स्थापना दी कि मशीन द्वारा विस्थापित श्रम मशीन बनाने के लिए जरूरी श्रम से अधिक होता है। मार्क्स का तर्क था कि यदि ऐसा न होता तो पूँजीपति मजदूरों को कम करके मशीनों द्वारा उत्पादन का रास्ता न अपनाते। पूँजीपति मशीनों को इसलिए अपनाते हैं क्योंकि इससे उनका मुनाफा बढ़ता है और मुनाफा इसलिए बढ़ता है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ने से 'अतिरिक्त उत्पादन' अधिक होता है, जो पूँजीपति के मुनाफे का आधार है।

लेकिन मार्क्स, रिकार्डो और तब से लेकर अब तक के पूँजीवादी (या मार्क्सवादी) अर्थशास्त्रियों में से किसी ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया है कि किसी प्रौद्योगिकी की सारी चारित्रिक विशेषताएँ और अर्थव्यवस्था तथा व्यापक समाज पर उसका असर तीन आनुपातिक सम्बन्धों से निर्धारित होते हैं। प्रति श्रमिक उत्पादन उनमें से केवल एक है। अन्य दो अनुपात हैं– उत्पाद एवं पूँजी का अनुपात और श्रमिक एवं पूँजी का अनुपात। उन्नत प्रौद्योगिकी की ओर जाने से प्रति श्रमिक अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। उससे भी महत्त्वपूर्ण बात, जो पिछले दो सौ सालों से अधिक लम्बे अरसे के औद्योगीकरण के अध्ययन से सामने आयी है, वह यह है कि उन्नत प्रौद्योगिकी के साथ प्रति इकाई उत्पादन के लिए जरूरी पूँजी-निवेश बढ़ता जाता है, अर्थात पूँजी की उत्पादकता घटती है (प्रति इकाई पूँजी-निवेश पर होने वाले उत्पादन को पूँजी की उत्पादकता कह सकते हैं)। अर्थशास्त्र का सामान्य विद्यार्थी भी औद्योगीकरण से जुड़े इस तथ्य से वाकिफ है लेकिन पश्चिमी अर्थशास्त्रियों ने एक सतही विश्लेषण के बाद इस तथ्य के निहितार्थों की विवेचना को टाल दिया है, इस आशा के साथ कि भविष्य में यह अनुपात शायद उलट जाएगा।

पश्चिमी अर्थशास्त्र के सारे विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित हैं कि समाज के सभी श्रमिकों को रोजगार मिला हुआ है और इसलिए प्रति श्रमिक उत्पादन बढ़ने से कुल उत्पादन भी बढ़ता है। लेकिन ऐसा सिर्फ उन्हीं अर्थव्यवस्थाओं में सम्भव है जहाँ उपलब्ध प्रति श्रमिक पूँजी उस उन्नत प्रौद्योगिकी के लिए जरूरी प्रति श्रमिक पूँजी-निवेश से अधिक हो। ऐसे पूर्ण रोजगार की स्थिति में समग्र उत्पादन श्रम की उत्पादकता के साथ बढ़ता है तथा अधिक उन्नत प्रौद्योगिकी अधिक उत्पादन देगी। लेकिन जिन अर्थव्यवस्थाओं में उपलब्ध प्रति श्रमिक पूँजी उन्नत प्रौद्योगिकी के लिए जरूरी प्रति श्रमिक पूँजी से कम है, वहाँ सारी पूँजी लगा देने के बाद भी कुछ श्रमिक बेरोजगार रह जाएँगे। ऐसे में विभिन्न स्तर की प्रौद्योगीकियों से हो सकने वाले कुल उत्पादन की तुलना पूँजी की उत्पादकता पर निर्भर करती है। चूँकि अधिक उन्नत प्रौद्योगिकी में पूँजी की उत्पादकता कम होती है, इसलिए इस स्थिति में अधिक उन्नत तकनीकी अपनाये जाने से कुल उत्पादन बढ़ने के बजाय कम होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब तक किसी अर्थव्यवस्था में उपलब्ध कुल पूँजी समाज के सभी श्रमिकों को रोजगार दिला सकती है, तब तक प्रौद्योगिकी का स्तर बढ़ने से प्रति श्रमिक उत्पादन बढ़ता है और इससे समाज का सकल उत्पादन भी बढ़ता है। लेकिन जब प्रौद्योगिकी का स्तर इतना बढ़ जाता है कि कुछ लोग बेरोजगार रह जाएँगे तो सकल उत्पादन की तुलना प्रति श्रमिक उत्पादन के आधार पर नहीं की जा सकती क्योंकि रोजगार-प्राप्त श्रमिकों की संख्या अलग-अलग है। चूँकि पूरी पूँजी निवेश की जा चुकी है इसलिए सकल उत्पादन का आकलन प्रति इकाई पूँजी से होने वाले उत्पादन के आधार पर किया जा सकता है यानी पूँजी की उत्पादकता के आधार पर। इस तरह किसी समाज में अधिकतम उत्पादन ऐसी सबसे उन्नत प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल से प्राप्त होगा, जिसके अन्तर्गत समाज में उपलब्ध पूँजी से समाज के सभी श्रमिकों को रोजगार दिया जा सके। ऐसी प्रौद्योगिकी को हम उस समाज के लिए सर्वोपयुक्त प्रौद्योगिकी कह सकते हैं। किसी समाज में सर्वोपयुक्त प्रौद्योगिकी से अधिक उन्नत प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल से सकल उत्पादन कम होता है और इससे बेरोजगारी बढ़ती है। लेकिन पूँजीपति का मुनाफा बढ़ सकता है क्योंकि रोजगार-प्राप्त श्रमिकों में कमी कुल उत्पादन में कमी के अनुपात में अधिक होती है, इसलिए 'अतिरिक्त उत्पादन' अधिक होता है।

उत्पादन के तकनीकी सम्बन्धों को समझना भी जरूरी है। इसमें लागत और उत्पाद दोनों के मूल्यों को उनमें निहित पदार्थ और ऊर्जा के आधार पर देखा जाता है जो कि इनके वास्तविक मूल्य हैं। मानव-श्रम, जो उत्पादन के काम में लगता है, ऊर्जा

का ही एक रूप है। लागत में ऊर्जा ईंधन से मिलने वाली ऊर्जा की इकाइयों में मापी जा सकती है (इसे टी सी ई कहते हैं–टन्स ऑफ कोल ईक्वीवलेंट) मानव श्रम के अतिरिक्त काम में आने वाली बाकी ऊर्जा ईंधन जलाकर सीधे प्राप्त की जा सकती है (इस ईंधन में कोयला, पेट्रोल, डीजल, गैस आदि हो सकते हैं) या ईंधन की ऊर्जा को विद्युत से बदलकर काम में लाया जा सकता है। इस काम में हर कदम पर ऊर्जा की हानि होती है। पहले तो ईंधन जलाकर वाष्प या विद्युत जैसी उपयोगी ऊर्जा में परिवर्तित करने में कुछ हानि होती है। विद्युत बनाने में और तारों द्वारा दूर–दराज के स्थानों तक पहुँचाने में होने वाली हानि तो बहुत अधिक होती है। इसके बाद ऊर्जा को काम में परिवर्तित किया जाता है (जैसे इंजन चलाना, पम्प चलाना या कोई मशीन चलाना आदि)। ऊर्जा को काम में बदलने के दौरान भी ऊर्जा की हानि होती है। पूरी ऊर्जा काम में नहीं बदली जा सकती। इस काम का केवल एक हिस्सा ही सार्थक होता है, बाकी काम व्यर्थ होता है। उदाहरण के लिए, ट्रैक्टर से जुताई करने में होने वाला जो काम जमीन की मिट्टी खोदने और पलटने में लगता है वह सार्थक काम है और जो ट्रैक्टर खाली चलाने के लिए जरूरी है, वह काम व्यर्थ चला जाता है।

यह बात सभी मशीनों पर लागू होती है। उत्पादन के सार्थक काम की अपेक्षा व्यर्थ जाने वाले काम का अनुपात मशीन की क्षमता और आकार के साथ बढ़ता जाता है, यद्यपि उत्पादन की दर भी बढ़ती जाती है। उत्पादन के काम में लगने वाला सार्थक काम उस उत्पाद में निहित ऊर्जा के बराबर है और इसे उस उत्पाद का ऊर्जा–मूल्य कहते हैं। उत्पाद का ऊर्जा–मूल्य लागत–ऊर्जा का केवल एक अंश होता है। इसी प्रकार उत्पाद का एक पदार्थ–मूल्य भी होता है जो उस उत्पाद में लगे पदार्थ के रूप में मापा जा सकता है। कच्चे माल को तैयार माल में बदलने में पदार्थ की भी कुछ हानि होती है। यदि उत्पाद में निहित ऊर्जा और पदार्थ को उसका वास्तविक मूल्य माना जाए तो वह हमेशा लागत–ऊर्जा और पदार्थ–मूल्य से कम होगा। लेकिन उत्पाद में निहित एक मूल्य होता है जिसे (मार्क्स की शब्दावली में) उपयोगिता–मूल्य कहा जा सकता है। कच्चा माल (जैसे कपास) अपने–आप में किसी काम का नहीं होता, लेकिन उससे तैयार माल (जैसे कपड़ा) समाज के लिए उपयोगी होता है। लेकिन कैसी भी प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल किया जाए, कुल उत्पादन अर्थव्यवस्था में उपलब्ध कच्चे माल और ऊर्जा द्वारा निर्धारित सीमा से अधिक नहीं हो सकता। किसी वस्तु के उत्पादन में प्रति इकाई उत्पाद के लिए पदार्थ की लागत प्रौद्योगिकी के स्तर के साथ नहीं बदलती, लेकिन ऊर्जा–लागत प्रौद्योगिकी के बढ़ते स्तर के साथ बढ़ती जाती है। यदि हम उत्पादन के आर्थिक सम्बन्धों के समानान्तर उत्पादन के तकनीकी सम्बन्धों का भी विश्लेषण करें तो हम पाएँगे कि जिस प्रौद्योगिकी में ऊर्जा और श्रमिक का अनुपात समाज में उपलब्ध ऊर्जा और श्रमिक के अनुपात के बराबर होता है उस प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल से समाज को सर्वाधिक उत्पादन प्राप्त होता है क्योंकि ऐसी स्थिति में पूर्ण रोजगार के साथ उच्चतम प्रति श्रमिक उत्पादन प्राप्त होता है।

जिस प्रकार से पश्चिमी अर्थशास्त्रियों ने श्रम की उत्पादकता और उससे जोड़कर 'अतिरिक्त उत्पादन' या 'अतिरिक्त मूल्य' की व्याख्या की, उससे प्रौद्योगिकी के साथ एक चमत्कार का आभास होने लगा। पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने अतिरिक्त मूल्य के साथ जुड़े 'निजी मुनाफे' को औद्योगीकरण पर आधारित विकास की उत्प्रेरक शक्ति माना। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के काफी बाद तक बेरोजगारी की समस्या को लेकर पूरे यूरोप में उथल–पुथल मची रही और मजदूरों का औद्योगीकरण से विरोध बना रहा। उस समय मार्क्स ने दुनिया के मजदूरों के लिए ऐतिहासिक वस्तुवाद का एक सपना बुना, जिसके आधार में यह मान्यता थी कि औद्योगीकरण के बाद बढ़ते 'अतिरिक्त उत्पादन' को यदि निजी मुनाफे से हटाकर सामाजिक स्वामित्व में ले लिया जाए तो प्रौद्योगिकी का विकास तेजी से होगा जिसकी अन्तिम परिणति साम्यवादी आदर्श समाज की स्थापना में होगी, जिसमें सारा काम मशीनों द्वारा होगा और मानव श्रम–मुक्त वर्गविहीन समाज में रहेगा। अन्य पश्चिमी अर्थशास्त्रियों की तरह मार्क्स ने उत्पादन के तकनीकी सम्बन्धों पर नजर ही नहीं डाली और उत्पादन के

> ***पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने अतिरिक्त मूल्य के साथ जुड़े 'निजी मुनाफे' को औद्योगीकरण पर आधारित विकास की उत्प्रेरक शक्ति माना। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के काफी बाद तक बेरोजगारी की समस्या को लेकर पूरे यूरोप में उथल–पुथल मची रही और मजदूरों का औद्योगीकरण से विरोध बना रहा। उस समय मार्क्स ने दुनिया के मजदूरों के लिए ऐतिहासिक वस्तुवाद का एक सपना बुना जिसके आधार में यह मान्यता थी कि औद्योगीकरण के बाद बढ़ने 'अतिरिक्त उत्पादन' को यदि निजी मुनाफे से हटाकर सामाजिक स्वामित्व में ले लिया जाए तो प्रौद्योगिकी का विकास तेजी से होगा...***

आर्थिक सम्बन्धों का भी सिर्फ एकांगी विश्लेषण किया। विडम्बना तो यह है कि मार्क्स की इस व्याख्या को वैज्ञानिक समाजवाद कहते हैं।

इस शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में जब रूस में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो वहाँ के सत्ताधारियों ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को पत्थर की लकीर मानकर उनके अनुसार नीति-निर्धारण किया। रूस में उपलब्ध प्रति व्यक्ति पूँजी पश्चिमी यूरोप में उपलब्ध प्रति व्यक्ति पूँजी से बहुत कम थी लेकिन रूस ने पश्चिम की प्रौद्योगिकी के समानान्तर ही औद्योगीकरण शुरू किया। ऐसी स्थिति में उत्पादन के तर्क के अनुसार देश के सभी श्रमिकों के लिए रोजगार नहीं होता, लेकिन साम्यवाद की मान्यताओं के अनुरूप हर हाथ को काम दिया गया। उत्पादन के तकनीकी सम्बन्धों के विश्लेषण से हमें पता चलता है कि औद्योगिक उत्पादन का वास्तविक मूल्य हमेशा लागत से कम होता है। इसलिए अपने-आप में औद्योगिक उत्पादन न तो अतिरिक्त मूल्य दे सकता है और न मुनाफा। सच तो यह है कि औद्योगिक उत्पादन को चलाते रहने के लिए उस औद्योगिक अर्थव्यवस्था के दायरे के बाहर से मूल्यों का शोषण करना जरूरी होता है। एकांगी विश्लेषण से निकाले गये निष्कर्षों के भ्रम में फँसे साम्यवादी औद्योगिक उत्पादन के इस मूल चरित्र को नहीं समझ सके। रूस और उसके सहयोगी देशों में प्राकृतिक सम्पदा बहुत अधिक थी। हर प्रकार का कच्चा माल और विशेषकर ऊर्जा-संसाधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। किसानों और प्राथमिक क्षेत्र की अन्य सामग्रियों का शोषण करके और कुछ हद तक हथियारों की बिक्री से होने वाले लाभ के सहारे अर्थव्यवस्था को खींचा गया। इससे कुछ औद्योगिक विकास भी हुआ और मजबूत सुरक्षा-व्यवस्था भी विकसित हुई। लेकिन एक विषमतामूलक प्रौद्योगिकी और उत्पादन-व्यवस्था के आधार पर एक समतामूलक समाज की स्थापना का प्रयास अपने ही इस अन्तर्विरोध को नहीं सँभाल सका और साम्यवादी-व्यवस्था ने पूँजीवाद के सामने समर्पण कर दिया।

पूँजीवाद का जन्म ही साम्राज्यवादी शोषण के सहारे हुआ था। पूँजीवादी व्यवस्था का विकास भी औपनिवेशिक बाजारों की लूट के आधार पर हुआ था। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था को औद्योगिक विकास के लिए बाहर से लूट की अनिवार्यता का एहसास था। इसके लिए पूँजीवाद ने लगातार नये-नये तरीके ईजाद किये और आज भी कर रहा है। जैसे-जैसे प्रौद्योगिकी विकसित हो रही है वैसे-वैसे विकसित देशों की अपने दायरे के बाहर से शोषण की जरूरत भी बढ़ती जा रही है।

दूसरी ओर पूँजीवाद का जन्म ही साम्राज्यवादी शोषण के सहारे हुआ था। पूँजीवादी व्यवस्था का विकास भी औपनिवेशिक बाजारों की लूट के आधार पर हुआ था। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था को औद्योगिक विकास के लिए बाहर से लूट की अनिवार्यता का एहसास था। इसके लिए पूँजीवाद ने लगातार नये-नये तरीके ईजाद किये और आज भी कर रहा है। जैसे-जैसे प्रौद्योगिकी विकसित हो रही है, वैसे-वैसे विकसित देशों की अपने दायरे के बाहर से शोषण की जरूरत भी बढ़ती जा रही है। दूसरे महायुद्ध के बाद पश्चिमी देशों ने अपने उपनिवेशों को तो आजाद करना शुरू किया लेकिन विश्व के राजनीतिक मानचित्र को इस प्रकार बदल दिया कि सामरिक महत्त्व के प्राकृतिक स्रोतों, विशेषकर तेल पर उनका सीधे या कठपुतली सरकारों के माध्यम से कब्जा बना रहे। इस प्रकार दूसरे देशों के कच्चे माल को सस्ते में प्राप्त करना शोषण का एक तरीका रहा है। पश्चिमी देशों ने हथियारों की बिक्री से भारी मुनाफा कमाया है। लेकिन शोषण का सबसे व्यापक तरीका पिछड़े देशों के औद्योगीकरण से उनके बाजार पर कब्जा और असमान विनिमय-दरों पर व्यापार रहा है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार अधिकतर डॉलर या फिर यूरोपीय देशों की मुद्रा में होता है। डॉलर और रुपये की विनिमय दर आजकल 40-42 रुपये प्रति डॉलर चल रही है जबकि घरेलू क्रय-शक्ति की समतुलना के आधार पर एक डॉलर लगभग 7 रुपये के बराबर है। इस प्रकार डॉलर की विनिमय कीमत, बाजार दरों पर, उसकी वास्तविक कीमत से छह गुनी है। हम जब एक डॉलर के माल के आयात पर 42 रुपये चुकाते हैं या 42 रुपये का माल एक डॉलर में बेचते हैं तो दोनों तरफ से हमें 35 रुपये का नुकसान होता है। इस तरह हमें हर वर्ष कितना नुकसान होता है इसका अन्दाजा हमें इस बात से लगाना चाहिए कि वर्ष 1996-1997 में हमारा आयात 38 अरब डॉलर से और निर्यात 31 अरब डॉलर से अधिक था। निर्यात तो उपभोक्ता वस्तुओं का होता है लेकिन आयात में पेट्रोलियम उत्पादों के अलावा कोई ठोस चीज नहीं होती। यह भारत के मजदूरों के श्रम से उत्पादित सम्पदा के विदेशों में स्थानान्तरण का एक तरीका है। इसके बावजूद हमारे ऊपर जो कर्ज लदता चला जाता है वह अलग। दूसरी ओर विकसित देशों में भारी पूँजी इकट्‌ठी होती जाती है। यह प्रक्रिया लगातार चल और बढ़ रही है।

अब यदि विभिन्न देशों की राष्ट्रीय सम्पदा बनने की प्रक्रिया

को हम देखें तो पाएँगे कि जो सम्पदा ऐडम स्मिथ की नजर में औद्योगिक उत्पादन से बनती थी, वह आधुनिक अर्थव्यवस्था में वित्त एवं व्यापार से बनने लगी है। अब अर्थव्यवस्था को तीन क्षेत्रों में बाँट दिया गया है। पहला, प्राथमिक क्षेत्र, जिसमें कृषि तथा प्रकृति से सीधे मिलने वाले खनिज आदि होते हैं; दूसरा औद्योगिक क्षेत्र, जिसमें उत्पादित माल बनता है; और तीसरा सेवा-क्षेत्र, जिसमें एक तरफ तो प्रशासन, शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन तथा कला जैसे क्रियाकलाप होते हैं तो दूसरी ओर वित्त और व्यापार से जुड़े काम। एक तरह से देखा जाए तो तीसरे क्षेत्र में कोई नया मूल्य नहीं बनता।
उदाहरण के लिए, अगर हम दो ऐसे समाजों को देखें जो हर तरह से एक जैसे हैं लेकिन एक समाज में सब लोग स्वस्थ हैं जिन्हें चिकित्सा की जरूरत नहीं होती, और दूसरे समाज में लोग बीमार पड़ते रहते हैं जिनके लिए चिकित्सा व्यवस्था चलती रहती है तो दूसरे समाज का सकल घरेलू उत्पादन पहले समाज से ज्यादा हो जाएगा। यह एक बेतुकी-सी बात है लेकिन तीसरे सेवा-क्षेत्र की आय इसी तरह सकल घरेलू उत्पादन में जोड़ी जाती है। बैंक और शेयर बाजार जैसी संस्थाएँ कोई नया मूल्य उत्पादित नहीं करतीं। शेयर-बाजारों के हवाई उतार-चढ़ाव से जो मूल्य देखते-देखते गायब हो जाते हैं वे सिर्फ मूल्य का एहसास होते हैं, वास्तविक मूल्य नहीं। लेकिन अर्थव्यवस्था में इनकी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। विकसित देशों में, जहाँ बाहर से लगातार पूँजी का शोषण होता रहता है,ये संस्थाएँ इस मुनाफे के एक हिस्से को जनता में बाँटने का काम करती हैं और उससे भी ज्यादा बड़े हिस्से को पूँजीपतियों के हाथ में जमा करती रहती हैं। दूसरी ओर विकासशील कहे जाने वाले देशों में ये संस्थाएँ आम आदमी की बचत को पूँजीपतियों तक पहुँचाने का ही काम करती हैं। औसतन आम आदमी को इनसे कोई लाभ नहीं होता। ज्यादा-से-ज्यादा इनसे मिलने वाला फायदा मुद्रास्फीति के असर को कुछ कम करता है। लेकिन इस क्षेत्र में होने वाली आय विकासशील देशों में केवल मुद्रास्फीति बढ़ाती है। विकसित देशों में यही आय बाजार में वस्तुओं की माँग को बढ़ाती है।

नयी प्रौद्योगिकी का विकास केवल उन्हीं देशों में होता है जहाँ कुल पूँजी सर्वोन्नत प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की स्थिति बनाने के लिए जरूरी पूँजी से अधिक होती है। वहाँ बची हुई पूँजी का उपयोग शोध आदि के काम में किया जा सकता है। इसके बाद भी यदि पूँजी बची रह जाए तो इसके निवेश से और अधिक मुनाफा कमाने के लिए दूसरे देशों में उत्पादन शुरू करने की जरूरत होती है। इसके अलावा जब अधिकांश सम्पदा अब सेवा क्षेत्र के माध्यम से बनती है तो उत्पादन के प्रदूषण वाले काम को भी दूसरे देशों में करने की जरूरत महसूस हो रही है। विकासशील देशों में नयी उन्नत प्रौद्योगिकी विकसित करने की सम्भावना बहुत कम होती है क्योंकि न तो वहाँ शोध के लिए अतिरिक्त पूँजी होती है और न उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिक उन्नत प्रौद्योगिकी बनाने का दबाव।

इस प्रकार किसी भी समय में उपयोग की जा रही सर्वोन्नत प्रौद्योगिकी विश्व के देशों के दो वर्गों में बाँटती है। एक तरफ तो उन्नत देश हैं, जहाँ उपलब्ध पूँजी सर्वोन्नत प्रौद्योगिकी के तहत पूर्ण रोजगार बनाने के लिए जरूरी पूँजी से अधिक है। यहाँ उन्नत प्रौद्योगिकी से उत्पादन बढ़ता है तथा और अधिक उन्नत प्रौद्योगिकी की तलाश रहती है। इन देशों में व्यापार आदि के माध्यम से अन्य देशों में सम्पदा का स्थानान्तरण होता है और वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से सभी लोगों को लाभ मिलता है। ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था और आर्थिक नीतियाँ लोकतान्त्रिक राजनीति के अनुकूल होती हैं और लोकतान्त्रिक संस्थाएँ एवं आर्थिक संस्थान एक-दूसरे को मजबूत करते हैं।

दूसरी ओर वे अविकसित और विकासशील देश होते हैं जहाँ पूँजी की कमी होती है और सर्वोन्नत प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल से उत्पादन कम होता है, बेरोजगारी बढ़ती है और आर्थिक मन्दी आती है। तीसरे, सेवा-क्षेत्र के माध्यम से आम आदमी की बचत को पूँजी में बदलने की कोशिशों से मुद्रास्फीति बढ़ती है। लेकिन उन्नत प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल से पूँजीपति वर्ग का मुनाफा बढ़ने

का लालच रहता है। इसलिए पूँजीपति और उससे जुड़े आभिजात वर्ग का निहित स्वार्थ उन्नत प्रौद्योगिकी के प्रयोग में होता है। इसके लिए वह उन्नत प्रौद्योगिकी विकसित करने वाले देशों पर आश्रित होता है और उनकी इच्छा के अनुरूप अपने देश की नीतियों को बदलने के लिए भी तैयार रहता है। ये नीतियाँ आम आदमी के हित में नहीं होतीं इसलिए इन आर्थिक नीतियों का लोकतान्त्रिक राजनीति से टकराव होता है।

पिछले कुछ वर्षों से पश्चिमी देशों में एक नयी विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था के निर्माण की कोशिश शुरू की गयी है जिसके अन्तर्गत वे अपने देश में उपलब्ध अतिरिक्त पूँजी को दूसरे देशों में लगाकर अपनी जरूरत के अनुरूप उत्पादन काम करवाना चाहते हैं और साथ ही वित्त और व्यापार पर अपना पूरा कब्जा चाहते हैं। इसके माध्यम से सभी देशों के उपलब्ध प्राकृतिक स्रोतों, श्रम बल और बाजार पर विकसित देशों की पहुँच और कुछ हद तक नियन्त्रण हो जाएगा। भारत के बड़े-बड़े अर्थशास्त्री ऐसी ही व्यवस्था के विकास के अनुरूप नीतियाँ बनाने को नयी आर्थिक नीति कहते हैं। इससे देशी पूँजीपतियों के हितों को नुकसान होता है। लेकिन पश्चिमी देश धीरे-धीरे अपना शिकंजा कस रहे हैं। क्योंकि देशी पूँजीपति भी अपने हितों की पूर्ति के लिए पश्चिमी देशों पर आश्रित हैं। लेकिन अर्थव्यवस्था के विश्वव्यापीकरण का अभियान अपने पहले कदम पर एशिया एवं रूस के मुद्रा-संकट की वजह से अटक-सा गया है। मुद्रा का यह संकट सेवा-क्षेत्र के माध्यम से शोषण की प्रक्रिया में ही निहित है। इस संकट ने हमें सोच-विचार के लिए एक मौका और कुछ समय दिया है कि हम अपने देश के सन्तुलित आर्थिक विकास के बारे में कुछ गम्भीरता से विचार और विश्लेषण कर सकें।

सबसे पहले तो हमें अपने देश की परिस्थितियों का तुलनात्मक आकलन करना होगा। हमारी जनसंख्या अमरीका की जनसंख्या से तीन गुना से अधिक है जबकि हमारे देश का भौगोलिक क्षेत्रफल अमरीका का लगभग एक-तिहाई ही है। इस प्रकार हमारा जनसंख्या घनत्व अमरीका से नौ गुना है। वर्तमान विनिमय दरों पर हमारा प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पादन करीब 250 डॉलर प्रति वर्ष है और अमरीका का 25,000 प्रति वर्ष से अधिक (अर्थात एक और सौ का अनुपात है)। यदि बचत-दर लगभग बराबर मान ली जाए तो प्रति व्यक्ति पूँजी-निर्माण की दर भी लगभग एक और सौ के अनुपात में होगी। हमारी प्रति व्यक्ति ऊर्जा की खपत 270 से 300 किलोग्राम कोयले की ऊर्जा के समतुल्य है (0.27-0.3 टी सी ई प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष) जबकि अमरीका में ऊर्जा खपत 14 से 15 टी सी ई अर्थात लगभग एक और पचास का अनुपात है। ऐसे में यान्त्रिक उत्पादन-व्यवस्था अपनाएँगे तो कितने लोगों को रोजगार दे पाएँगे? इस प्रकार की उत्पादन-व्यवस्था से कुल उत्पादन हमारे संसाधनों के कुल सम्भावित उत्पादन से (जो सर्वोपयुक्त प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल से प्राप्त की जा सकती है) बहुत कम होगा और बेरोजगारी फैलाएगा जिससे हमेशा आर्थिक मन्दी की स्थिति बनी रहती है। पूँजीपतियों को अपना माल बेचने के लिए निर्यात का सहारा लेना पड़ेगा। प्रौद्योगिकी का आयात और उत्पादित माल का निर्यात, इस आर्थिक दुश्चक्र में फँस कर देश कभी विकसित नहीं हो सकता।

अपनी परिस्थितियों के आकलन में हमें यह देखना होगा कि हमारे देश की लगभग सवा अरब की आबादी का लगभग पैंसठ प्रतिशत कृषि पर आश्रित है जबकि हमारी कुल कृषि योग्य भूमि चालीस करोड़ एकड़ के लगभग है। इस प्रकार प्रति कृषक परिवार ढाई एकड़ कृषि भूमि से कुछ अधिक उपलब्ध है। समाज के लिए वास्तविक मूल्य कृषि एवं अन्य प्राकृतिक स्रोतों से ही उपलब्ध होते हैं। इसलिए वास्तविक मूल्यों को अधिकाधिक बढ़ाने के लिए भूमि के उत्पादक प्रयोग को अधिक प्रभावी बनाना होगा। इसके लिए जरूरी है कृषि को निजी स्वामित्व से मुक्त कराकर ग्राम समुदाय को सौंप दिया जाए ताकि कृषक इसका खुलकर पूर्ण उपयोग कर सकें। इससे करीब सत्तर करोड़ जनता की क्रयशक्ति बढ़ेगी जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की माँग बढ़ेगी और अर्थव्यवस्था में तेजी आएगी। हमें ऊर्जा के ऐसे स्रोत विकसित करने होंगे जो ऋतुचक्र के साथ पुनर्नवीन होते रहते हैं। हमें ध्यान देना होगा कि सभी प्रकार की मशीनें ऐसे ऊर्जा-स्रोतों और मानव-श्रम और पशुबल के मिश्रण से चलायी जा सकती हैं और इस तरह से बिजली भी बनायी जा सकती है। हमें ऐसी ही मशीनों का विकास करना होगा, जिनमें उपलब्ध ऊर्जा-स्रोतों और उपलब्ध श्रम-शक्ति के आधार पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके। उसी रास्ते से हमारा देश अपनी विकास की सम्भावनाओं को प्राप्त कर सकता है। लेकिन इसके लिए हमें अन्धानुकरण की मानसिकता को छोड़कर अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन-व्यवस्था और उसी के अनुकूल अर्थव्यवस्था, राजनीति आदि का ढाँचा बनाना होगा। वर्तमान अर्थशास्त्र की मुख्यधारा में इस तरह की पहल की तलाश करना शायद बेकार है। क्या हम इस दिशा में बढ़ने का कोई वैकल्पिक मार्ग बना सकते हैं?

सम्पर्क-302, महालक्ष्मी अपार्टमेंट, तुलसीपुर,
महमूरगंज, वाराणसी-221010, उत्तर प्रदेश

तकनीकी और विकास

बगाराम तुलपुले

आजकल प्रौद्योगिकी को विचारधारा के स्तर तक ला दिया गया है। इस विचारधारा के अनुसार प्रौद्योगिकी अपने-आप में तटस्थ है। मानवता की सभी समस्याएँ प्रौद्योगिकी के द्वारा सुलझायी जा सकती है तथा इसके बिना कोई भी समाज प्रगति या विकास नहीं कर सकता। प्रौद्योगिकी जितनी नयी होगी, अनिवार्यत: उतनी ही अच्छी भी होगी। यह भी कहा जाता है कि प्रौद्योगिकी की विश्वव्यापी आँधी रोकी नहीं जा सकती। प्रौद्योगिकी के समर्थकों का यह मानना है कि कोई भी चीज प्रौद्योगिकी की सहायता से ही बनायी जा सकती है। इस प्रकार एक विचारधारा के रूप में मान्यता मिल जाने के पश्चात इसके नकारात्मक पहलुओं का आलोचनात्मक परीक्षण, वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन, विभिन्न प्रौद्योगिकियों के बीच के भेदभाव तथा उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थितियों को तय करना कठिन हो गया है। नयी प्रौद्योगिकी के आते ही अच्छी-भली काम करने वाली उत्पादन पद्धति तथा औजार पुराने और अविकसित ठहरा दिये जाते हैं। इस पूरी प्रक्रिया को रचनात्मक विनाश कहा जाता है, जबकि वास्तविकता यह है कि यह कुछ लोगों के लिए रचनात्मक है और ज्यादातर लोगों के लिए विनाशकारी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य के शरीर और दिमाग की ताकत को प्रौद्योगिकी ने अविश्वसनीय सीमा तक बढ़ाया है। इसने नये पदार्थों, उत्पादों और सेवाओं का भी सृजन किया है, जिनमें से कई में यह क्षमता है कि वे मनुष्य के जीवन को दीर्घायु, सुखी और पूर्ण बनाते हैं। लेकिन मानव इतिहास में प्रौद्योगिकी की भूमिका सदैव हितैषी की ही नहीं रही है; यह औद्योगिक देशों तक में भी उतनी ही विनाशकारी रही है। शेष विश्व के लिए प्रौद्योगिकी ज्यादातर एक विनाशकारी ताकत रही है, जिसकी सहायता से वर्चस्ववादी देश विश्व के बड़े भाग को विजित कर उन्हें अपना दास बनाते रहे हैं। बेरहमी से उनका शोषण किया है, यहाँ तक कि उनके प्राकृतिक संसाधनों को नष्ट किया है तथा उनके निवासियों को कंगाल बनाया है। ऐतिहासिक रूप से प्रौद्योगिकी का सबसे शक्तिशाली दबाव सैनिक इस्तेमाल में रहा है। इस क्षेत्र में प्रौद्योगिकी ने एकमात्र बची हुई महाशक्ति को शेष विश्व पर अपना वर्चस्व बनाये रखने का अवसर प्रदान किया है। आज की सैनिक प्रौद्योगिकी की विस्मयकारी विध्वंसक ताकत तथा इसके निर्मम उपयोग को खाड़ी युद्ध के दौरान प्रदर्शित किया जा चुका है।

प्रौद्योगिकी जिस सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के तहत काम करती है, न तो उससे वह उदासीन रहती है और न मूल्य-रहित। अनिवार्यत: यह पहले से ही मजबूत और धनी सामाजिक तबके को और अधिक मजबूत और सम्पन्न

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य के शरीर और दिमाग की ताकत को प्रौद्योगिकी ने अविश्वसनीय सीमा तक बढ़ाया है। इसने नये पदार्थों, उत्पादों और सेवाओं का भी सृजन किया है, जिनमें से कई में यह क्षमता है कि वे मनुष्य के जीवन को दीर्घायु, सुखी और पूर्ण बनाते हैं। लेकिन मानव इतिहास में प्रौद्योगिकी की भूमिका सदैव हितैषी की ही नहीं रही है; यह औद्योगिक देशों तक में भी उतनी ही विनाशकारी रही है।

बनाती है तथा शोषण और उपेक्षा के द्वारा गरीब तबके को और अधिक निर्धन तथा शक्तिहीन। ऐसा देश के भीतर और बाहर दोनों जगहों पर होता है। यह सामाजिक ताने–बाने को भी तोड़ती है। विकसित और विकासशील दोनों तरह के धनी, शक्तिशाली और प्रौद्योगिक सम्पन्न सामाजिक समूह आपस में मिलकर एक पृथक वैश्विक सामाजिक समूह बन गये हैं तथा अपने पारस्परिक हित के लिए मिल–जुलकर काम करते हैं। अपने ही समाज के अन्य समूहों से वे न केवल आर्थिक रूप से बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा वैचारिक रूप से निरन्तर आगे बढ़ते जा रहे हैं। यह विभाजन खासकर विकसित देशों से सुस्पष्ट हो गया है, जहाँ अभिजात तबके की जीवन-शैली, जीवनावधि, जीवन की अपेक्षाएँ, वेश–भूषा, भाषा, शिक्षा, मनोरंजन तथा आवागमन के साधन विश्व के अन्य देशों के अभिजात तबके के ज्यादा निकट हैं, बनिस्बत अपने ही समाज के अन्य तबकों के। वास्तव में अभिजात तबके के लड़के-लड़कियों की आकांक्षा रहती है कि वे अपने समाज को छोड़कर औद्योगिक समाजों का हिस्सा बन जाएँ।

सच्चा विकास अनिवार्यतः और सबसे पहले मानव विकास है। अनिवार्य रूप से इसकी केन्द्रीय चिन्ता समाज में सम्पूर्ण मानव जाति का विकास होती है। विकास केवल आर्थिक नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व–यानी सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भी होता है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी सहज व्यक्तिगत, प्रतिभा जिस ऊँचाई तक पहुँचा सकती है, उस हद तक बढ़ने का अवसर प्रदान करना चाहिए। इस तरह के विकासात्मक अवसरों तथा संसाधनों को केवल वर्तमान पीढ़ी के लिए ही नहीं बल्कि भावी पीढ़ी के लिए भी सुरक्षित रखना चाहिए।

यह तथाकथित विकास नाशवादी है। किसी मूलभूत मानवीय और सामाजिक मूल्यों पर आधारित नहीं होने के कारण इसने विकृत होकर हरेक व्यक्ति, जिसके पास ऐसी अन्धी दौड़ में शामिल होने का साधन और अवसर है, को सम्पत्ति, शक्ति, सुख–सुविधा के निष्ठुर लक्ष्य को पाने की अन्धी दौड़ में शामिल कर दिया है। मानवता के बड़े हिस्से के लिए, जिसके पास ऐसे साधन और अवसर नहीं हैं, सम्पत्तिहरण, शोषण, उपेक्षा और बीमारी व्यापक पैमाने पर है।

सच्चा विकास अनिवार्यतः और सबसे पहले मानव विकास है। अनिवार्य रूप से इसकी केन्द्रीय चिन्ता समाज में सम्पूर्ण मानव जाति का विकास होती है। विकास केवल आर्थिक नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व–यानी सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भी होता है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी सहज व्यक्तिगत, प्रतिभा जिस ऊँचाई तक पहुँचा सकती है, उस हद तक बढ़ने का अवसर प्रदान करना चाहिए। इस तरह के विकासात्मक अवसरों तथा संसाधनों को केवल वर्तमान पीढ़ी के लिए ही नहीं बल्कि भावी पीढ़ी के लिए भी सुरक्षित रखना चाहिए। इसलिए कहा जाता है कि असली विकास टिकाऊ होता है।

इस तरह विकास को मुक्त विश्व बाजार को नियन्त्रित तथा प्रभावित करने वाले अदृश्य हाथों की अनुकम्पा पर नहीं छोड़ा जा सकता। न तो यह कुछ तथाकथित अटल प्रक्रियाओं मसलन वैश्वीकरण, निजी उद्यमों या उच्च प्रौद्योगिकी से स्वतः प्रवाहित होगा। केवल इसी तरह के मूल्य समाज को सही लक्ष्य और उद्देश्य निर्धारित करने तथा उसके प्रयासों को सही दिशा में निर्देशित कर सकते हैं।

इस तरह के मूल्यों को खोजने के लिए किसी को बहुत दूर तक नजर नहीं दौड़ानी पड़ेगी, वे सभी जगह हमारी ओर देख रहे होते हैं। हम हमेशा नियमित तथा अनुष्ठानिक रूप से उनकी शपथ लेते रहते हैं। सत्य (सच्चाई), शान्ति, करुणा, अहिंसा, स्वतन्त्रता, समानता, प्रकृति तथा अन्य प्राणियों के साथ मेल–जोल, आत्मनिर्भर, श्रम की प्रतिष्ठा—ये सब वे मूल्य हैं जिन पर विकास को आधारित होना चाहिए। मैं ऐसा नहीं सोचता हूँ कि इन मूल्यों की तर्कसंगतता सिद्ध करने के लिए विस्तृत तर्क की जरूरत है। ये मूल्य स्वस्पष्टकारी हैं। जो समाज इन मूल्यों का निरादर करता है, वह सच्चे अर्थों में मुक्त, शान्तिप्रिय, खुश, रचनात्मक तथा स्थायी समाज के रूप में विकास नहीं कर सकता है।

विकास के लक्ष्य में यह भी शामिल होना चाहिए कि वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा और विविधता बढ़ने पर वे लोगों को उपलब्ध हो सकें ताकि उनका भौतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन समृद्ध हो सके। दूसरे शब्दों में, विकास का अर्थ केवल लोगों का जीवन–निर्वाह करना नहीं होना चाहिए बल्कि सभी को उन्नत और गुणवत्ता से परिपूर्ण जीवन–स्तर प्रदान करना होना चाहिए। सही विकास के लिए साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि सामाजिक संसाधनों का नयी–नयी, अनावश्यक, यहाँ तक कि नुकसानदेह, वस्तुओं के उत्पादन में दुरुपयोग न हो जिनके लिए तुरन्त मुनाफा

कमाने की नीयत से भड़कीले तथा झूठे विज्ञापनों के जरिए कृत्रिम माँग पैदा की जाती है और इस तरह एक अन्धे उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया जाता है।

कुछ लोगों का तर्क होता है कि प्रकृति खुद सम्पूर्ण समानता के पक्ष में नहीं है। यानी असमानता एक प्राकृतिक सच्चाई है। यह तर्क सत्याभास मात्र है। समाज में मौजूदा असमानता प्रकृति ने नहीं पैदा की है, यह मनुष्य की करामात है। जाहिर है असमानताओं को मानवीय इच्छा और प्रयासों से काफी हद तक दूर किया जा सकता है। जो असमानताएँ अलग-अलग पुरुषों और महिलाओं में जन्मजात प्रतिभा और योग्यता के अन्तर के चलते बची रहेंगी, उनका स्वरूप कभी वैसा उग्र नहीं होगा जैसा कि आज है। वैसी असमानताओं को साधन बनाकर मुट्ठी-भर लोग अधिकांश लोगों का शोषण और दमन भी नहीं कर सकते।

आय में असमानता परिसम्पत्ति, जमीन, पूँजी, शिक्षा, स्वास्थ्य, जाति, लिंग आदि में असमानता का नतीजा होती है। समाज में समता को बढ़ावा देने के लिए आर्थिक परिसम्पत्तियों के असमान स्वामित्व का उपचार करना होगा। उसी तरह शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच न होने के चलते जो अनेक लोग कमजोर रह गये हैं उनकी बाधाओं को दूर करना होगा। जाति और लिंग की असमानताओं के परिणामस्वरूप पैदा होने वाली सामाजिक असमानताओं का भी सोद्देश्य हल निकालना होगा।

आज उत्पादन और रोजगार का मामला अलग कर दिया गया है। क्या उत्पादन हो, इसका फैसला बाजार करता है और उत्पादन आधुनिक 'केन्द्रीकृत' अधिक पूँजीवाली तथा उच्च तकनीक के जरिए होता है और मामूली रोजगार पैदा करता है। रोजगार के लिए कुछ रोजगार योजनाएँ चलायी जाती हैं, जिनकी सार्थकता सन्दिग्ध है। आदर्श स्थिति तो यही है कि विकास के क्रम में ही उत्पादन बढ़े और रोजगार पैदा हो। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, न कि दो अलग-अलग लक्ष्य, जिनके लिए दो व्यवस्थाएँ अपनायी जाएँ।

अगर हमारी उत्पादन-व्यवस्था लघु व मध्यम स्तर की, विकेन्द्रित और श्रम आधारित हो तो कैसी तकनीक की जरूरत होगी, इसका निर्धारण इसी से हो जाएगा और वह तकनीक हमारी क्षमताओं के भीतर होगी। ऐसी व्यवस्था का मकसद श्रम बचाना नहीं, बल्कि हर तरह के उत्पादन में वृद्धि और आत्मनिर्भरता होगा। गौरतलब है कि लघु उद्योग ही हमारे कुल औद्योगिक उत्पादन का 40 फीसदी उत्पादन करते हैं। औद्योगिक सामान के निर्यात में भी उनका हिस्सा लगभग बराबर ही है। इसके अलावा लघु उद्योगों की विकास दर सरकार के मामूली या न के बराबर सहयोग के बावजूद बड़े उद्योगों के बराबर नहीं हुई है। इनमें 1.4 करोड़ लोग रोजगार पाते हैं जो मध्यम और बड़े उद्योगों की तुलना में काफी बड़ी संख्या है। इस क्षेत्र में कुल लागत भी संगठित उद्योगों से काफी कम है।

विकास की मौजूदा प्रक्रिया में ऊर्जा की माँग दिनोंदिन बढ़ती जाती है और भारी पूँजी और पर्यावरण को क्षति पहुँचा कर ही ऊर्जा का उत्पादन हो पाता है। सामान्य तकनीक वाले श्रम-आधारित लघु व विकेन्द्रित उद्योगों के जरिये ऊर्जा की माँग काफी कम की जा सकती है और इससे परिवहन पर बोझ भी कम होगा, जिसमें सबसे अधिक ऊर्जा खर्च होती है। बायो-गैस के विकास और धुंआरहित चूल्हों के प्रयोग से ग्रामीण इलाकों में बड़े पैमाने पर ऊर्जा की खपत से निपटा जा सकता है और जरूरी व्यावसायिक ऊर्जा की
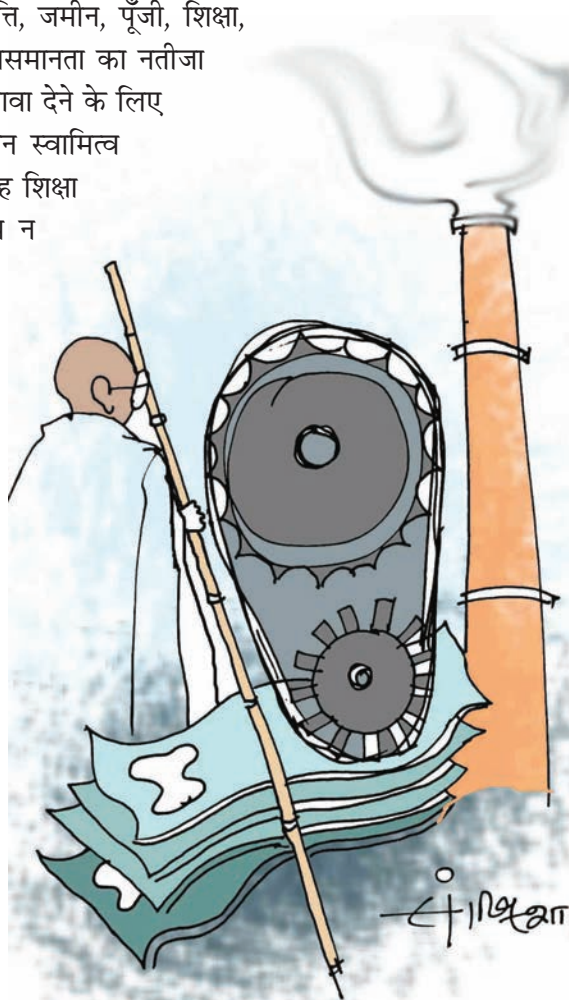
समस्या से बिजली के उत्पादन, वितरण में चुस्ती लाकर और अक्षय ऊर्जा के स्रोतों के विकास के जरिये निपटा जा सकता है। हमें बराबर यह बताया जा रहा है कि हमारे देश में पूँजी की भारी किल्लत है और इसके लिए हमें विदेशी पूँजी पर निर्भरता बढ़ानी होगी। लेकिन यह हमारी पूँजी-आधारित उत्पादन व्यवस्था का ही परिणाम है, जिसमें पूँजी की माँग निरन्तर बढ़ती जाती है। यह व्यवस्था हमारे जैसे देश के लिए तो एकदम अनावश्यक है ही, शायद किसी देश के लिए यह लाभप्रद नहीं है। श्रम-आधारित व्यवस्था से ही हम आत्मनिर्भरता हासिल कर सकते हैं।

अर्थशास्त्र मानवीय पूँजी की महत्ता पर जोर देता है। एक हद तक वित्तीय पूँजी और मानव श्रम की पूँजी से अदला-बदली सम्भव है। औद्योगिक क्रान्ति ने विकास की जो व्यवस्था विकसित की, उसमें श्रम बचाने की तकनीक का विकास करके लगातार वित्तीय पूँजी को मानवीय पूँजी से अलग किया जा रहा है। लेकिन वैकल्पिक विकास अपनाने की इच्छाशक्ति हो तो इसे उलटना कोई मुश्किल काम नहीं है।

अर्थशास्त्र मानवीय पूँजी की महत्ता पर जोर देता है। एक हद तक वित्तीय पूँजी और मानव श्रम की पूँजी से अदला-बदली सम्भव है। औद्योगिक क्रान्ति ने विकास की जो व्यवस्था विकसित की, उसमें श्रम बचाने की तकनीक का विकास करके लगातार वित्तीय पूँजी को मानवीय पूँजी से अलग किया जा रहा है। लेकिन वैकल्पिक विकास अपनाने की इच्छाशक्ति हो तो इसे उलटना कोई मुश्किल काम नहीं है।

यह भी दलील दी जा सकती है कि सिर्फ लोगों की संख्या ही मानवीय पूँजी नहीं होती बल्कि ज्ञान और कुशलता से भी मानवीय पूँजी बनती है। निस्सन्देह यह सही है। लेकिन यह भी सही है कि हमारे देश के कारीगरों और दस्तकारों में एक तरह का ज्ञान और कुशलता है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इन लोगों को कुछ और प्रशिक्षण देकर इनका ज्ञान और कुशलता बढ़ायी जा सकती है। इस तरह हमारी मानवीय पूँजी में इजाफा होगा।

हर तरह की पूँजी अन्तत: समाज की होती है। पूँजी की निजी मिल्कियत को एक सीमा से आगे नहीं बढ़ने देना चाहिए; ताकि वे हमारी अर्थव्यवस्था ही तय न करने लगें। समाज द्वारा तय की गयी प्राथमिकता के आधार पर पूँजी लगनी चाहिए, न कि बाजार की माँग के अनुसार।

इस तरह हम ऐसी व्यवस्था बना सकेंगे जो पूँजी, परिवहन और उच्च तकनीक की माँग को कम-से-कम करेगी और ऐसी व्यवस्था से आय का पुनर्वितरण और व्यापक रोजगार-सृजन सम्भव है।

हमने जो विकास का खाका पेश किया, उसमें बाजार की भूमिका क्या है? क्या इसका मतलब कंट्रोल, लाइसेंस और कोटा-परमिट राज की 'नियन्त्रित अर्थव्यवस्था' की ओर लौटना है? यह स्पष्ट होना चाहिए कि जनता के लिए श्रम आधारित विकेन्द्रित उत्पादन व्यवस्था कभी नियन्त्रित अर्थव्यवस्था में सम्भव ही नहीं है। हाँ, इस व्यवस्था को भी लालफीताशाही या भ्रष्टाचार का शिकार बनाया जा सकता है। इसलिए इसके नियोजन, निवेश, उत्पादन-वितरण और अन्य प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी अधिक होनी चाहिए। लालफीताशाही, भ्रष्टाचार और प्राकृतिक संसाधनों की बर्बादी पर अंकुश लगाने के लिए समूचे विकास की गतिविधियों की सम्पूर्ण सूचना का अधिकार लोगों को होना चाहिए। जाहिर है, खुला बाजार इसका एक अंग ही होगा।

लेकिन उन्मुक्त विश्व बाजार की पक्षधर तथाकथित मुख्यधारा की अर्थव्यवस्था ऐसे विकास को सम्भव नहीं बनाने देगी, जिसकी हम चर्चा करते हैं। अन्तरराष्ट्रीय पूँजी संस्थाएँ, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और उनके भारतीय साझीदार, शेयर बाजार के घपलेबाज तस्कर और ऐसे तमाम लोग हमारी अर्थव्यवस्था को नचाएँगे और लोगों तथा देश के संसाधनों का दोहन करेंगे।

ऐसे विकास में राज्य की भूमिका क्या होगी? सम्पन्न वर्ग, जिसमें उच्च वर्ग और संगठित औद्योगिक मजदूर भी हो सकते हैं, इस विकास के क्रम को उलटने की भारी मुखालफत कर सकते हैं। इन वर्गों के पास सत्ता, पैसा, विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व व्यापार संगठन जैसी संस्थाएँ हैं। इसलिए मौजूदा मॉडल में कोई फेरबदल आसान नहीं होगा। लेकिन ऐसे बदलाव की बुनियाद लोगों की प्रबल इच्छाशक्ति में ही है। लेकिन सिर्फ इच्छाशक्ति ही पर्याप्त नहीं है। राज्य भी निर्णायक भूमिका निभा सकता है। राज्य ही इन वर्गों के निहित स्वार्थ पर काबू पा सकता है और बदलाव की राह आसान कर सकता है। लेकिन राज्य भी लोगों की इच्छाशक्ति से ही ताकत पा सकता है।

●

बोलती-चालती हिंसा

सोपान जोशी

क्या आप बोली में बोलते हैं या भाषा में? दोनों अपनी होंगी पर ऐसा माना जाता है कि बोली जरा छोटी होती है। उसका दायरा सीमित होता है। ऐसी कोई जुबान जब एक छोटे से इलाके में, एक खास समाज या वर्ग तक रुकी रहती है, तो उसे बोली कह दिया जाता है। भाषा उससे बड़ी मानी जाती है। उसका विस्तार विराट होता है। उसे बोलने वालों में कई तरह के लोग होते हैं, कई तरह के समाज, कई तरह के वर्ग।

बोली और भाषा के बीच की यह ऊँच-नीच कई लोग शाश्वत सत्य मानते हैं। भाषा और समाज का शास्त्र समझने वाले एक अमेरिकी वैज्ञानिक इस विषय पर एक व्याख्यान दे रहे थे, जब उनसे एक श्रोता ने कहा था : 'भाषा वह बोली है जिसके पास थलसेना और नौसेना हो।' यानी जिसके पास सत्ता हो, हिंसक शक्ति हो, उसकी बोली भाषा कही जाने लगती है। और जो ताकतवर न हो उसकी भाषा बोली मान ली जाती है। भाषा-विज्ञान में इस कहावत का आज भी बोलबाला है। उस श्रोता का नाम तो ठीक पता नहीं, पर बाद में यहूदी भाषाशास्त्री मैक्स वाएनराइख के नाम से यह कथन चल निकला था।

बोलचाल के इस वर्ग विभाजन में भाषा वह भैंस है जो लाठी वाले की होती है। इस उपमा को थोड़ा खींचे, तो बोली को किसी गरीब की बकरी भी कहा जा सकता है। पर हमें यह भी याद रखना चाहिए कि सत्ता, लाठी या शब्दों के अर्थ तय करने की ताकत भी किसी एक व्यक्ति या समाज के पास बहुत समय तक बनी नहीं रहती। इसलिए भाषा-बोली के इस वर्गभेद को भुलावा बनने में देर नहीं लगती। एक समय हमारे यहाँ संस्कृत जानना ही कुलीनता का लक्षण माना जाता था। फिर ऐसे दिन भी आए कि फारसी राज-काज की भाषा बन गई। फारसी जानने वालों के लिए तेल बेचना निकृष्ट मान लिया गया। यह कहने वालों ने अपने खाने के तेल का भी मोल नहीं किया। हाथ का कंगन, आरसी-फारसी तक की कहावतें दो-चार पीढ़ी तक चलती रहीं।

फिर फारसी का जमाना लद गया। राज-काज की भाषा उर्दू हुई। उस दौर में मीर और मोमिन की शायरी की समझ सभ्यता का सर्टिफिकेट बन गया। इसका असर आज की मुम्बईया फिल्मों तक में मिल जाता है, जब खुशबू की उपमा उर्दू से दी जाती है। इसके बाद जमाना आया अँग्रेजी का। साहब बन कर अँग्रेजी बोलना ही उच्चता का मानदंड हो गया। आज भी हर कहीं अँग्रेजी बोलने की कोचिंग क्लास के विज्ञापनों में बताया जाता है कि आत्मविश्वास तो तभी मिलता है जब फर्राटेदार अँग्रेजी बोलनी आ जाए। अँग्रेजी न जानने वालों को हीनता से ग्रस्त माना जाता है।

अँग्रेजी की तुलना में आई इस हीनता को स्वतत्रंता सेनानियों ने आजादी के बाद दूर करना जरूरी समझा। सन् 1949 में संविधान सभा ने हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिया। इस विषय पर बहस बहुत कड़वी हुई। जिन प्रदेशों में हिन्दी नहीं बोली जाती, वहाँ डर था कि हिन्दी वाले उन पर हावी हो जाएँगे। हिन्दी को राष्ट्रीयता की पहचान बनाना, उन्हें अपने और अपनी भाषाओं के प्रति अविश्वास लगा। ऐसे राज्यों के कुछ लोगों को हिन्दी की तुलना में अँग्रेजी ज्यादा स्वीकार्य लगी।

सन् 1956 में नए राज्य बनाने का आधार थी भाषा। तेलुगू बोलने वाले इलाकों को आन्ध्र प्रदेश में जोड़ दिया गया। कई प्रान्तों में भाषा को ले कर दंगे तक हुए। बम्बई शहर के महाराष्ट्र या गुजरात में जाने को ले कर जाने तक ली गईं।

हिन्दी के राष्ट्र गौरव की गाथा भी कुछ ऐसे ही फीकी पड़ रही है। ऐसा मान लिया गया कि हिन्दी को सेवकों और सेवक संस्थाओं की बैसाखी चाहिए। कुछ लोग अपने परिचय में 'हिन्दी सेवी' ऐसे लगाने लगे कि जैसे यह कोई बी.ए., एल.एल.बी. जैसा तमगा हो। सरकारी विभागों में हिन्दी पखवाड़ा मनाया जाने लगा। हिन्दी दिवस भी मुकर्रर हुआ और हिन्दी अफसरों के पद भी बने। इसी तर्ज पर उर्दू की तरक्की के लिए भी संस्थाएँ बन गईं। हिन्दी बढ़ाओ के साथ ही अँग्रेजी हटाओ के नारे लगने लगे।

इन नारों के शोर में सच की आवाज कहीं दब गई। लेकिन

वह फिर भी अजीब से जामे में सामने आ खड़ा होता है। ऐसे कई हिन्दी और उर्दू सेवी मिल जाएँगे, जिनकी संतानें अँग्रेजी में ही बात करती हैं। नौकरशाही में ऐसे कई लोग मिल जाते हैं जो हिन्दी न के बराबर जानते हैं, लेकिन ऐसा कोई नहीं मिलता जो अँग्रेजी न जानता हो। केन्द्र सरकार तो अँग्रेजी में ही काम करती है, चाहे वह संसद हो न्यायपालिका हो या कार्यपालिका। जरूरत पड़ने पर उसका बेहद घटिया हिन्दी अनुवाद किया जाता है। ऐसा कैसे हुआ कि सरकार के संरक्षण, प्रचार और बढ़ावे के बावजूद सरकार के ही बड़े हिस्से में ही हिन्दी और उर्दू की जगह नहीं बची? क्या हमारी देशभक्ति खोटी है?

अगर हिन्दी, उर्दू, संस्कृत या फारसी को बड़ी भाषाएँ मानी जाए, तो यह तय है कि इनका संगम कई दूसरी भाषाओं से हुआ होगा। बल्कि जो लोग इन भाषाओं को करीब से जानते हैं वे बताते हैं कि एक काल की संस्कृत या फारसी दूसरे काल की संस्कृत या फारसी से बहुत अलग थी। इन भाषाओं को लिखने के लिए अलग-अलग काल में अलग-अलग लिपियाँ का उपयोग हुआ।

भाषा और राष्ट्रभक्ति की इस होड़ में भाषा के स्वभाव की अनदेखी होती है। कोई भी भाषा किसी पेड़ की तरह होती है। जमीन के ऊपर जो तना और शाखाएँ दिखती हैं कम से कम उतनी ही गहरी जड़ें जमीन के नीचे जाती हैं। किसी पेड़ की ही तरह जो दिखता है, उसका पोषण भी अदृश्य स्रोत से ही होता है।

या शायद और ठीक उपमा है नदी की। किसी भी जगह पर नदी का पानी किसी ऊपरी इलाके से आता है, क्योंकि पानी सदैव नीचे ही बहता है। ऊपर जाने के लिए उसे भाप बनना पड़ता है, जिसके लिए सूरज जैसे विशाल हीटर की जरूरत होती है।

पानी इस्तेमाल करने वाले को पता नहीं होता कि उसका पानी हिमालय के किसी हिमनद के पिघलने से आया है या किसी के खेत में गिरी बारिश के पानी का रिसाव है। वह उस पानी को अपना संवैधानिक अधिकार भी मान सकता है, या देवताओं का प्रसाद भी। लेकिन नदियों की धारा किसी संविधान की धारा से नहीं बहती, न ही बादल मौसम विभाग के नीति निर्धारण या श्वेत पत्र की बाट जोहते हैं, बरसने के लिए। उनका धर्म सूरज, तापमान, दबाव, हवाओं जैसे कारणों से तय होता है। बाजारवाद या साम्यवाद या समाजवाद या राष्ट्रवाद या किसी भी और वाद-विवाद से इन ताकतों पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। गांधीवाद से भी नहीं।

कई पहाड़ों, जंगलों और खेतों पर गिरी बारिश के पानी के संगम से नदियाँ बनती हैं। एक-दूसरे से मिलकर ये नदियाँ बड़ी हो जाती हैं। सबसे बड़ी नदी वह होती है जिसका दूसरी नदियों से सबसे ज्यादा संयोग होता है। अगर सागर से उलटी गंगा बहाएँ तो गंगा का स्रोत गंगोत्री भर नहीं होगा। यमनोत्री भी होगा, तिब्बत में ब्रह्मपुत्र का स्रोत भी होगा। दिल्ली और बनारस और पटना जैसे शहरों के सीवर से निकलने वाला पानी भी होगा। कहने को गंगा बनारस या पटना में एक विशाल नदी है, लेकिन उसका पानी शिवजी की जटा से निकल कर नहीं आता है। वह बनारस के ही गटर की पैदावार होता है।

अगर हिन्दी, उर्दू, संस्कृत या फारसी को बड़ी भाषाएँ मानी जाए, तो यह तय है कि इनका संगम कई दूसरी भाषाओं से हुआ होगा। बल्कि जो लोग इन भाषाओं को करीब से जानते हैं, वे बताते हैं कि एक काल की संस्कृत या फारसी दूसरे काल की संस्कृत या फारसी से बहुत अलग थी। इन भाषाओं को लिखने के लिए अलग-अलग काल में अलग-अलग लिपियों का उपयोग हुआ।

अरबी बोलने वालों के राज में ईरान की भाषा अवेस्तन लिपि की बजाय अरबी लिपि में लिखी जाने लगी। अरबी में 'प' व्यंजन नहीं होता है, तो अरबी लोग इसकी जगह 'फ़' या 'ब' व्यंजन का इस्तेमाल करते हैं। इसलिए वे ईरान के पार्स नामक इलाके में बोली जाने वाली भाषा को वे फारसी कहने लगे। अरबी के संयोग से फारसी अगर एक सिरे से टूटी तो समय के साथ एक नए सिरे से बनी भी। अगर कोई जुबान दूसरी जुबानों से टकराना बन्द हो जाती है तो उसका बढ़ना रुक जाता है। ठीक उस नदी के जैसे जिसमें दूसरी नदियों का पानी मिलना बन्द हो जाता है। उर्दू यह बात बखूबी बतलाती है।

'उर्दू' तुर्क भाषा का शब्द है और मतलब है इसका 'तम्बू'। मध्यकाल में सैनिक छावनियाँ तम्बूओं में लगती थीं और उनमें कई इलाकों के सैनिक साथ रहते थे। तुर्क जुबान बोलने वालों का वास्ता होता बृज या अवधी या फारसी या अरबी या दूसरी कई भाषा बोलने वालों से। इस मुठभेड़ से एक नई भाषा तैयार हो गई, जिसमें व्याकरण तो था संस्कृत से जुड़ी भाषाओं का, पर जिसमें क्रियारूप संयोजन आया फारसी से। शब्द तो भोजपुरी और अरबी से ले कर तुर्क और अवधी और न जाने कितनी भाषाओं के आ गए।

फिर उर्दू राज की भाषा बन गई। न जाने क्या कारण रहा होगा। शायद इसका सम्बन्ध इससे था कि राज करने वालों का उन दिनों सेना और सैनिकों से गहरा लेन-देन था। इसके बाद

उर्दू दरबार की भाषा बनी, और इसे सीखना सत्ता के खेल का हिस्सा बन गया। कई गजब के कवियों ने उर्दू में लिखा, धीरे-धीरे इसे पढ़े-लिखे, सुसंस्कृत लोगों की जुबान मान लिया गया। साधारण लोगों के काम आने वाली एक जीवन्त बोली सत्ता की सीढ़ी चढ़ कर किताबी भाषा बन गई।

आज कई लोगों को चिन्ता होती है कि उर्दू का चलन कम होने से वह गंगा-जमुनी तहजीब ही मिट जाएगी, जिसने हिन्दू और मुसलमान समाजों को सौहार्द से रहना सिखाया। उन्हें यह भी डर लगता है कि इस भाषा के मिटने से वह सौहार्द भी मिट जाएगा। हो सकता है कि उनका डर सही हो। लेकिन यह भी हो सकता है कि जैसे उर्दू की पैदाइश ही साधारण लोगों के मेल-जोल से हुई वैसे ही दूसरी जुबानें भी खिल उठेंगी। उर्दू कोई अकेली तो नहीं है। उसकी कई बहने हैं, कई रिश्तेदार भी।

भाषा की बातचीत में हिंसा का एक कारण यह भी है। अपनी भाषा के सम्मान के लिए दूसरों की भाषा को नीचा दिखाना। कुछ लोग ऐसा कहते मिल जाते हैं कि अमुक भाषा ही दूसरी सब भाषाओं की जननी है। इसके पीछे एक भाव असुरक्षा का भी होता है। जिसे अपनी संस्कृति के दबने का डर हो, वह उसे बढ़ाने के लिए आक्रामक भी हो सकता है, असहज तरीके भी अपना सकता है। ऐसे में झूठ-सच का भेद करने का विवेक जाता रहता है।

भाषा कोई पत्थर में जमा जीवाष्म नहीं है, जिसका जनम तय करने के लिए रेडियो-कार्बन पद्धति की जरूरत पड़े, केवल यह सिद्ध करने के लिए की पहले कौन आया। नदी की ही उपमा पर लौटें, तो हमारे यहाँ कहा जाता है कि नदी का स्रोत और साधु की जात नहीं पूछी जाती। बोलियों का आपस में सम्बन्ध जननी और संतान का नहीं होता। बहनों का होता है। कोई बहन उमर में बड़ी होती है, कोई थोड़ी छोटी।

हिन्दी की आज की दुर्गति का कारण ऐसे में दिखने लगता है। पहले से कहीं ज्यादा लोग आज हिन्दी को अपनी मातृभाषा कहते हैं। क्योंकि हिन्दी राजभाषा है। वर्ना ऐसे कई परिवार आज छत्तीसगढ़ी या बुन्देलखंडी या अंगी या मालवी को अपनी मातृभाषा बताते। अगर ऐसा होता तो हिन्दी की नदी में मिलती कई नदियों का पानी दिखता। हिन्दी का विराट रूप सब लोगों को एक साँचे में ढालने में नहीं है। यह भाषाई हिंसा होगी। हिन्दी की भव्यता कई रूपों, कई ध्वनियों, कई तरह के लोगों को अपनाने में है। कई नदियों का पानी अपने में समाने देने में है।

सरकारी हिन्दी का राजभाषाई रूप इसका ठीक उलटा करता है। वह लोगों पर यह दबाव बनाता है कि वे अपनी भाषा छोड़ एक आई.एस.आई. मार्का हिन्दी का ही उपयोग करें। यह कई तरह के लोगों पर अन्याय है। जिसे आज हिन्दी का रूप माना जाता है, उसकी पहली किताब सन् 1803 में छपी थी। आज इस हिन्दी का स्वरूप अनुवाद का हो चुका है। राज की असल भाषा तो अँग्रेजी है, पर उसकी जूठन का अनुवाद हिन्दी में चलता है। और आप पाएँगे कि कई ऐसे अखबारों में धड़ल्ले से इस्तेमाल होता है जो अपने आप को राष्ट्रीय दैनिक कहते हैं।

अँग्रेजी से हिन्दी का लेन-देन तो होगा ही, जैसा कि भाषाओं का होता रहता है। आज अँग्रेजी का चलन बढ़ रहा है तो इसलिए कि उसका सामना कई और भाषाओं से हुआ है। अँग्रेजी व्यापक भाषा बनती जा रही है। लेकिन अँग्रेजी की गाँठ में दोयम दर्जे की अनुवादी हिन्दी खड़ी करना समझदारी नहीं है। उस हिन्दी में वह आत्मविश्वास नहीं होता जो सहज व्यवहार से आता है। यह सहजता ही मातृभाषा में अभिव्यक्ति का सार है। उसमें घरेलूपन, अपनापन होता है। वह असुरक्षा नहीं होती जो किसी और की भाषा से होड़ करने से आती है। हिंसा असुरक्षित लोगों का सहारा है। इसका माने यह नहीं है कि दूसरी भाषाएँ न सीखी जाएँ। कई भाषाएँ जानना सदा से विद्वता का लक्षण माना गया है। लेकिन बुनियादी शिक्षा तो मातृभाषा में ही हो सकती है। उस जुबान में जिसमें कोई माँ अपनी सन्तान से बात करती है। फिर चाहे वह भाषा हो या बोली।

हिन्दी का इस्तेमाल करने का सबसे पुराना लिखित वाकया अमीर खुसरो का मिलता है, जो कहते थे कि वे हिंदवी में लिखते थे। उसके पहले भी अपभ्रंश के रूप में हिन्दी के स्रोत के कुछ चिह्न मिलते हैं। इस स्वरूप में देखें तो हिन्दी भारत भर की भाषा हो सकती है। इसी रूप में हिन्दी का इस्तेमाल बम्बई की फिल्मों में होता है। इसीलिए तो इतने लोग इन फिल्मों को देखते हैं। मोल चुका कर। इन फिल्मों को देखने के लिए सरकार से अनुदान कोई नहीं माँगता।

हिन्दी की सेवा इसी में है कि उसकी बहनों का मान किया जाए। इस अहिंसक संस्कार के लिए किसी सरकारी विभाग या विश्वविद्यालय के भाषा अनुसन्धान विभाग की जरूरत नहीं है। केवल अपनी भाषा में बोलने और लिखने का आत्मविश्वास वापस लाना होगा। अपनी दुनिया की बात अपने सन्दर्भ में करने का भी। अगर हमने यह सब करने लायक काम नहीं किए तो बोलचाल की हिंसा, यह बोलती-चालती हिंसा थमेगी नहीं।

सम्पर्क-बी-408, पहला माला, निर्माण विहार, दिल्ली
फोन : 011-22542145

भाषा में स्वराज का संकट

अरुण भारद्वाज

गौरतलब है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में व्यापार, संचार और संवाद की सबसे सशक्त भाषा के रूप में हिन्दी उभर रही है तो दूसरी ओर स्थानीय भाषाओं को विलुप्त होने का संकट बढ़ता जा रहा है। जनपदीय भाषाओं की अस्मिता बचाने और सत्ता में हिस्सेदारी दिलाने के लिए संविधान की आठवीं अनुसूची का प्रावधान है।

भाषा मूलतः तीन कार्य करती है। एक, अपने आप (सम्वेदन) की पहचान कराती है। दो, मूल्यबोध की सम्भावना तलाशती है और तीन, सोच समझकर यथार्थ को एक नए ढंग से समझने में मदद करती है। इस तरह से भाषा एक ओर सांस्कृतिक ढ़ाँचे से जुड़ी होती है तो दूसरी ओर युगीन आवश्यकताओं को व्यक्त भी करती है। भाषा के इसी सन्दर्भ को ध्यान में रखकर महात्मा गांधी भाषा के सवाल को केवल माध्यम का सवाल नहीं मानते थे बल्कि इसे मनुष्यमात्र के अस्तित्व का एक बड़ा प्रश्न मानते थे। यही कारण है कि 15 अगस्त 1947 की रात बीबीसी के पत्रकार ने आजादी पर अँग्रेजी में उनसे प्रतिक्रिया जाननी चाही। गांधीजी ने उस पत्रकार से केवल इतना ही कहा 'कृपया दुनिया को खबर कर दें कि गांधी अंग्रेजी भूल गया है।' यह तथ्य सुनने में बहुत छोटा है किन्तु इस प्रसंग में समाई पराधीन वृति का फलितार्थ बहुत विस्तृत है। आज भाषा के मामले में गांधीजी की अन्तर्दृष्टि से हम कितनी दूर निकल आए हैं कि साक्षर लोगों की बात छोड़ दीजिए, अक्षर-ज्ञान नहीं रखनेवाले सबसे गरीब और कमजोर आदमी की बोली-वाणी में 'टेंशन', 'मम्मी', 'अंकल', 'सॉरी', 'थैंक्यू' जैसे अनगिनत शब्द शामिल हो गए हैं। वहीं दूसरी ओर हमारे परिवेश से भाषा के वैसे शब्द खोते जा रहे हैं, जिनका व्यवहार कम हो चुका है। वैसे खोए शब्द अपने किसी बिछुड़े हुए आत्मीय स्वजन की तरह याद आते हैं। एक प्रोजेक्ट के शोधार्थियों द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय के अन्तर्ध्वनि समारोह में एक प्रश्नावली के जरिए हिन्दी भाषा से गायब होते जा रहे शब्दों का सर्वेक्षण किया गया। इसमें पाया गया कि सरकण्डा, खपडैला, इक्का, निहुरना, तख्ती, नैहर, चकाचक, मेहरारू, औचक, औघड़ आदि हिन्दी के शब्दों से लोग दूर होते जा रहे हैं। यह प्रवृति केवल हिन्दी में नहीं, भारत की अन्य भाषाओं में भी देखने को मिल रही है। इस तरह हम पिता और पितामह की भाषा भूलते जा रहे हैं।

गौरतलब है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में व्यापार, संचार और संवाद की सबसे सशक्त भाषा के रूप में हिन्दी उभर रही है तो दूसरी ओर स्थानीय भाषाओं के विलुप्त होने का संकट बढ़ता जा रहा है। जनपदीय भाषाओं की अस्मिता बचाने और सत्ता में हिस्सेदारी दिलाने के लिए संविधान की आठवीं अनुसूची का प्रावधान है। इसमें शामिल 22 भाषाओं में से अधिकांश भाषाओं को निर्दिष्ट सूची में शामिल करने की माँग हो रही है। भारत जैसे बहुभाषिक देश में मात्र 22 भाषाओं को संवैधानिक संरक्षण देकर उन तमाम स्थानीय भाषाओं को संकटापन्न (endangered) स्थिति में पहुँचाना एक अन्यायपूर्ण

भाषा–नीति का ही परिणाम है।

संसार में कुल छः हजार के करीब भाषाएँ बोली जाती हैं। उनमें से अधिकांश भाषाएँ विलुप्त होने के कगार पर खड़ी हैं। यू एन ओ की रिपोर्ट के अनुसार विश्व की 97 प्रतिशत आबादी 4 प्रतिशत भाषाएँ बोलती हैं, जबकि ठीक इसके विपरीत विश्व की 3 प्रतिशत जनसंख्या 96 प्रतिशत भाषाओं को व्यवहार में लाती हैं। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य हैं कि इन छः हजार में से आधी से अधिक भाषाओं को व्यवहार में लाने वाले प्रयोक्ताओं की संख्या कुछ हजारों में रह गई है। भाषाविदों के एक आकलन के अनुसार इस शती के अन्त तक विश्व की 90 प्रतिशत भाषाएँ काल कवलित हो जाएँगी और उनकी जगह चार–पाँच प्रभावशाली भाषाएँ ले लेंगी। उदाहरण के तौर पर अमेरिका में अंग्रेजी और मैक्सिको में स्पेनिश भाषा ने वहाँ की स्थानीय भाषाओं को बेदखल कर अपना जगह कायम किया है। इसी तरह आस्ट्रेलिया में मौजूदा पीढ़ी के साथ 90 प्रतिशत स्थानीय भाषाएँ विलुप्त हो जाएँगी।

पीढ़ी–दर–पीढ़ी भाषाएँ अपने भाषिक समुदाय में अन्तरित होती रहती हैं। भाषाविदों ने विलुप्त होती हुई भाषाओं को छः वर्गों में विभक्त कर एक पैमाना तैयार किया है। उसमें पीढ़ी–दर–पीढ़ी भाषा व्यवहार तो होता है। किन्तु समानान्तर रूप से बहुभाषिकता की स्थिति भी बनी रहती है। तीसरा वर्ग असुरक्षित भाषा का है। इस वर्ग की भाषा घर–परिवार के भीतर तो बोली जाती है। किन्तु कार्य–क्षेत्र में उस भाषा का व्यवहार वर्जित होता है। चौथा वर्ग संकटापन्न भाषा का है जिसमें बच्चों द्वारा उस भाषा का व्यवहार नहीं किया जाता है किन्तु घर के लोग उस भाषा को व्यवहार में लाते हैं। बच्चे उस भाषा में उसका प्रत्युत्तर नहीं देते हैं। अमेरिका के अलास्का शहर में यूपिक इस्किमो समुदाय है जहाँ 20 वर्ष पहले सभी बच्चे यूपिक भाषा बोलते थे किन्तु अब वहाँ के बच्चे केवल अंग्रेजी बोलते हैं। पाँचवा वर्ग अतिसंकटापन्न भाषा का है जिसमें पितामह और परपितामह के द्वारा भाषा–व्यवहार में लाई जाती है। परिवार के बच्चे भाषा को बोल नहीं पाते हैं। अन्त में छठा वर्ग अतिशय संकटापन्न भाषा का है जिसे कभी–कभी बातचीत के क्रम में घरों में उस भाषा को याद कर ली जाती है। उस भाषा का व्यवहार दैनिक जीवन में नहीं होता है। विलुप्त भाषा वैसी भाषा है जिसका अस्तित्व व्यवहार में या स्मरण में किसी स्थान या समय में नहीं होता है। अस्तित्व के रूप में मृतप्राय भाषा विलुप्त भाषा है। संसार में 900 के करीब आर्थिक क्षेत्र हैं। इसमें से 238 क्षेत्र भाषायी विविधता वाले क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों के निवासियों को बड़े पैमाने पर पारिस्थितकीय ज्ञान की समृद्ध परम्परा है। पर्यावरणविद एवं भाषाविद ल्यूसा मॉफी ने इसी विविधता को 'बॉयोकल्चर डायवरसिटी' कहा है। भाषाओं के लुप्त होने से सम्बद्ध भाषा में संचित सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, पारिस्थितकीय ज्ञान तथा सामाजिक पहचान मिट जाती है। भाषिक–समूह की जातीय स्मृतियाँ नष्ट हो जाती है। फलतः मानव समाज भविष्य की चुनौतियों से निपटने का प्रमुख औजार खो बैठता है। समय–समय पर भाषाओं के मरते–रहने से उसकी संरचना, मानवीय क्रिया कलाप, विविधता से भरा सम्पूर्ण पारिस्थितकीय–तंत्र का साक्ष्य समाप्त हो जाता है।

भाषा व्यवहार के नए क्षेत्र उत्पन्न होने के कारण जीवन की स्थितियाँ नए परिवेश पाकर बदल जाती हैं। ऐसी दशा में प्रभावशाली भाषाएँ नए क्षेत्र की अभिव्यक्तियों को अपनाकर स्वयं को समर्थ और विकसित कर लेती हैं जबकि अधिकांश भाषाएँ काल के गाल में समा कर अपना अस्तित्व गवाँ बैठती हैं। शिक्षा का माध्यम, मीडिया, तकनीक, इन्टरनेट, बाजार, सरकारी कामकाज, आध्यात्म आदि की भाषा बनकर कुछ भाषाएँ प्रभावशाली और आधुनिक बन जाती है जबकि समय के साथ पिछड़ जाने पर अधिकांश भाषाएँ संकटापन्न स्थिति में पहुँच जाती हैं।

भाषाविद् शिक्षा से जुड़े व्यक्ति भाषा-संरक्षण के लिए सर्वप्रथम भाषा का दस्तावेज बनाते हैं। दस्तावेज बनाने से मनुष्य की बौद्धिक सम्पदा समृद्ध होती है। भाषिक समुदायों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान में तेजी आती है। भाषा बचाव की दिशा में आँकड़ों के संग्रह एवं विश्लेषण में मदद मिलती है। दूसरे चरण में शैक्षिक गतिविधियों से जोड़कर अनेक प्रकार के अनुसंधान किए जाते हैं। भाषा-शिक्षक को समुचित प्रशिक्षण देकर भाषा-दक्षता को बढ़ाया जाता है ताकि उस भाषा में अधिक से अधिक लोग साक्षर हो सकें।

भाषाओं के संकटापन्न होने के बाहरी कारकों में आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सैन्यजनित नरसंहार आदि होते हैं तो आन्तरिक कारक भाषिक समुदायों या भाषा-प्रयोक्ता के द्वारा भाषा-व्यवहार के प्रति उदासीनता या निजभाषा के प्रति प्रेम का कम होना भी है। संसार के हर कोने में भाषाई अल्पसंख्यक लोग अपनी स्थानीय भाषा की अपेक्षा दूसरी सशक्त प्रभावशाली भाषा को तरजीह देते हैं। वे औपचारिक शिक्षा का माध्यम भी प्रभावशाली भाषा को अपनाते हैं। उन्हें अपनी भाषा पिछड़ी और समयानुकूल नहीं लगती है। यह नकारात्मक दृष्टि भाषा को संकटापन्न बनाती है।

भाषाविद् शिक्षा से जुड़े व्यक्ति भाषा-संरक्षण के लिए सर्वप्रथम भाषा का दस्तावेज बनाते हैं। दस्तावेज बनाने से मनुष्य की बौद्धिक सम्पदा समृद्ध होती है। भाषिक समुदायों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान में तेजी आती है। भाषा बचाव की दिशा में आँकड़ों के संग्रह एवं विश्लेषण में मदद मिलती है। दूसरे चरण में शैक्षिक गतिविधियों से जोड़कर अनेक प्रकार के अनुसंधान किए जाते हैं। भाषा-शिक्षक को समुचित प्रशिक्षण देकर भाषा-दक्षता को बढ़ाया जाता है ताकि उस भाषा में अधिक-से-अधिक लोग साक्षर हो सकें।

संकटापन्न भाषाओं के संवर्द्धन के लिए स्थानीय भाषाओं में शिक्षा का माध्यम होना अनिवार्य है। इन भाषिक समूहों की ज्ञान सम्पदा वाचिक परम्परा पर आश्रित रहती है। इसलिए उसे लिपिबद्ध करना आवश्यक है। अध्ययन सामग्री के तौर पर किताबों को तैयार कर लोगों को पढ़ने के लिए प्रेरित करना, जातीय परम्परा, पर्व-त्यौहार, ज्ञान-विज्ञान, सांस्कृतिक उत्सव, आध्यात्मिकता, जीवन मूल्य सभी भाषाओं में संजोए होते हैं उनका अध्ययन कर लोगों के बीच में प्रसार अनिवार्य है। भाषा को बचाने के लिए भाषा-केन्द्र, स्कूल आदि खोलकर सकारात्मक वातावरण बनाने की भी आवश्यकता है। आर्थिक उन्नति के नाम पर निज भाषा की उन्नति के प्रति नकारात्मक रवैया भाषा को संकटापन्न बनाती है। भाषाओं के मिटने और भाषिक विविधता के प्रति जागरूकता लाकर स्थानीय राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय महत्व प्रदान करके भाषा को संकटापन्न होने से हम बचा सकते हैं। बीसवीं शती के प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक कृष्णचंद्र भट्टाचार्य अपने एक लेख 'विचारों के स्वराज' में एक सारगर्भित बात कहते हैं कि 'आज हम राजनीतिक सन्दर्भ में स्वराज अथवा आत्मनिर्णय की बात करते हैं। मनुष्य का मनुष्य के ऊपर आधिपत्य राजनीति के क्षेत्र में सबसे अधिक महसूस होता है किन्तु आधिपत्य का सूक्ष्मतर रूप भी होता है जो विचारों के क्षेत्र में एक संस्कृति के द्वारा दूसरी संस्कृति पर हावी होने पर दिखाई देता है। यह आधिपत्य अन्ततः अधिक चिन्ताजनक होता है क्योंकि साधारणतः लोग महसूस नहीं करते।' महसूस करना बन्द कर देना भाषा के संकट को बुलावा देना है। विचार भाषा में प्रतीकवत होते हैं। इसलिए भाषा को जीवन्त बनाए रखना मानवीयता को जीवन्त बनाए रखना जैसा है।

सम्पर्क— हिन्दी विभाग, श्रीवेंकटेश्वर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो०— 9868249145

हिन्दी भाषा नीति का सवाल

राजकुमार

किसी भी राज्य की भाषा नीति न सिर्फ उस राज्य की सांस्कृतिक नीतियों को प्रदर्शित करती है बल्कि आर्थिक विकास की दिशा के स्वरूप का निर्धारण भी करती है। '91 के आर्थिक सुधारों की पहल के बाद भारत सरकार ने लगभग यह स्पष्ट कर लिया कि वैश्विक दुनिया में रहने के लिए उसे वैश्विक भाषा का चुनाव करना है। यही राज्य की आर्थिक गतिविधियों के हित में है। यही लोगों के हित में है। 'वैश्विक भाषा' से आशय अँग्रेजी से है। इस भाषा में रोजगार की अपार सम्भावनाएँ हैं। इसलिए लोगों को बेरोजगारी से निकालने का आसान नुस्खा है और हिन्दुस्तान को वैश्विक स्तर पर पहचान देने का भी। इस विचार-दृष्टि ने नेहरूवीयन नीति और मॉडल के भीतर जब-तब कुलबुलाते और सवाल उठाते 'भाषा नीति' के प्रश्नों एवं अंतर्विरोधों को ही समाप्त कर दिया। 'अँग्रेजी हटाओ, मातृभाषा लाओ' जैसे तीखे और बेधते हुए सवालों की शृंखलाएँ, तार्किक एवं जरूरी बहसें अचानक सार्वजनिक जीवन से तकरीबन हटा लिए गए। इसकी जगह अँग्रेजी के पक्ष में फिर से नयी और ताकतवर तर्क प्रणाली ने ले लिया। दो महत्वपूर्ण तर्क बड़ी ही सहजता से हमारे जीवन में शामिल किए गए। पहला, नयी तकनीकी माध्यम को ओपरेट करने के लिए अँग्रेजी ज्ञान अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में, 'पोस्ट इंडस्ट्रीयल सोसायटी' में सूचना को हासिल करने से लेकर सामान्य गतिविधियों के लिए भाषायी स्तर पर अँग्रेजी की जानकारी जरूरी है। कम्प्यूटर-इंटरनेट आधारित समाज में इसके बगैर काम नहीं चल सकता। इसका नतीजा यह हुआ कि अँग्रेजी सिखाने वाले सेंटर धड़ल्ले से खुलने लगे। छोटे-बड़े हर शहर की गलियों-मुहल्लों, चौक-चौराहों पर अँग्रेजी सिखाने वाले केन्द्र बन गए। इश्तहारों में 'अमेरिकन अँग्रेजी सीखें' नयी पदावली बनकर सामने आयी।

दूसरा तर्क यह दिया गया कि पिछले पचास वर्षों में हिन्दुस्तान में एक ऐसी पीढ़ी खड़ी हो गयी है जो अँग्रेजी भाषा का प्रयोग मातृभाषा की तरह करती है। इस पीढ़ी की अँग्रेजी औपनिवेशिक अँग्रेजी न होकर हिन्दुस्तानी अँग्रेजी है। यानी अँग्रेजी की पुनर्स्थापना को 'औपनिवेशिक रणनीति' या गुलाम बनाने की षडयन्त्र की तरह न लिया जाए, न पुराने औजारों से समझने की कोशिश की जाए, बल्कि इसे विशेषता की तरह समझा जाए। ताकि इसे 'पोस्ट कोलोनियल हेजेमनी' से बाहर रखा जाए। कहने का मतलब हिन्दुस्तान, अपने अँग्रेजी ज्ञान के कारण वैश्विक परिदृश्य में सीधे हस्तक्षेप के लिए तैयार है। इसकी उभरी हुई दिखनेवाली आर्थिक ताकतें भारतीय भाषाओं के कारण नहीं बल्कि अँग्रेजी ज्ञान के कारण है।

पिछले पचास वर्षों में हिन्दुस्तान में एक ऐसी पीढ़ी खड़ी हो गयी है जो अँग्रेजी भाषा का प्रयोग मातृभाषा की तरह करती है। इस पीढ़ी की अँग्रेजी औपनिवेशिक अँग्रेजी न होकर हिन्दुस्तानी अँग्रेजी है। यानी अँग्रेजी की पुनर्स्थापना को 'औपनिवेशिक रणनीति' या गुलाम बनाने की षडयन्त्र की तरह न लिया जाए, न पुराने औजारों से समझने की कोशिश की जाए बल्कि इसे विशेषता की तरह समझा जाए।

भला अब इस दमदार तर्क से मुँह मोड़ने का कोई कारण नजर नहीं आता। लेकिन इसमें आंशिक सच्चाई ही है। अब जबकि आर्थिक सुधारों के दौर को लगभग पच्चीस वर्ष गुजरने को हैं, 10 मार्च 2014 को गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग ने एक सर्कुलर जारी किया, जिसमें कहा कि सभी सरकारी विभाग सोशल मीडिया पर हिन्दी को अँग्रेजी के बराबर का दर्जा दें। तब सवाल उठता है कि इसकी जरूरत क्यों आ पड़ी? सरकार जिस भाषा नीति के तहत आगे बढ़ रही थी, बीस-पच्चीस वर्ष बाद उसे और आगे जाना चाहिए था और हिन्दी को उचित दर्जा देने और दिलाने जैसी बहसों को नजरअंदाज कर आगे निकल जाना चाहिए था। ऐसी क्या मजबूरी हुई कि अँग्रेजी के साथ हिन्दी को बराबर का दर्जा देने की बात सूझ पड़ी?

अँग्रेजी के साथ हिन्दी को उचित दर्जा देने की पहल भी उसी मनमोहनी सरकार के माध्यम से सम्भव हो रही थी, जिनकी नीतियाँ इसके खिलाफ थी। यहाँ तक कि उसी सरकार ने बारहवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत उच्च शिक्षा में सुधारों पर बल देते हुए 'शिक्षा और स्किल डेवलपमेंट' के लिए अँग्रेजी माध्यम को चुनने पर बल दिया है। दोनों मसले को आमने-सामने रखें तो अजीब विरोध की स्थिति दिखती है। 'भाषा नीति' के मामले में सारी तस्वीरें धुँधली और अस्पष्ट किस्म की हैं। पता ही नहीं चलता कि सरकार किस रास्ते आगे बढ़ना चाहती थी। भारत में आर्थिक सुधारों के जबरदस्त पक्षधर और जन्मदाता माने जानेवाले मनमोहन सिंह सरकार में यह पत्र तैयार हुआ लेकिन चुनावी प्रक्रिया व अभियान तेज होने के कारण वह सर्कुलर दब गया। जब दोबारा पत्र निकला तो हंगामा हो गया। क्योंकि तब केन्द्र सरकार बदल चुकी थी। प्रचंड बहुमत से नरेन्द्र मोदी प्रधानमंत्री बन गए। हिन्दी के लिए नयी गाइड लाइन का श्रेय इस सरकार को गया तो विवाद भी इनके मथ्थे मढ़ दिया गया। किसी ने इस पर विचार ही नहीं किया वह सर्कुलर पिछली सरकार ने तैयार की थी। उसकी बड़ी वजह यह बनी कि पूरे चुनाव के दौरान नरेन्द्र मोदी के धाराप्रवाह, लच्छेदार, नए मुहावरे में गढ़े गए हिन्दी भाषणों की धूम रही। गैर हिन्दी भाषी होते हुए भी नरेन्द्र मोदी की बेहतरीन, दमदार हिन्दी और लहजा लोगों को बेहद पसन्द आया। भाषणों के दौरान आम जनता से हामी भरवाती, उन्हें अपने साथ कनेक्ट करती हिन्दी लोगों को अपील कर रही थी। लगातार दस साल तक मनमोहन सिंह की अ-संप्रेषणीय, शुष्क, नीरस और कभी-कभी सुनी जानेवाली अँग्रेजी की तुलना में मोदी की हिन्दी पूरे देश में छा गयी। गोवा में दिये गए भाषण को कई लोग ऐतिहासिक दर्जा देते प्रतीत होते हैं। उन्होंने उन अहिन्दी प्रदेशों में भी हिन्दी में भाषण दिया, जहाँ से हिन्दी विरोध की आवाजें गाहे-बगाहे उठती रही हैं। मोदी के हिन्दी प्रेम को देखते हुए, जब नयी सरकार में सर्कुलर जारी हुआ तो, तमिलनाडु और अन्य अहिन्दी प्रदेशों में विरोध की लहर उठ खड़ी हुई। चौतरफा विरोध के दबाव में सरकार ने यह कहकर पल्ला झाड़ लिया गया कि यह सिर्फ हिन्दी पट्टी के लिए है। मसले को जैसे-तैसे शांत किया गया। विरोध को न झेल सकने की स्थिति में सरकार ने मीडिया में यह कहकर गेंद वापस काँग्रेस के पाले में डाल दी कि यह उसी सरकार की नीति थी। लेकिन इससे न तो उठे हुए सवाल मरते हैं, न ही चुनौतियाँ। हिन्दी भाषा के प्रयोग को अब गैरजरूरी मानकर छोड़ देना या अपनी पोजिशन से सरकार का हट जाना सम्भव नहीं है। 'सी-सैट' के मसले पर भी काफी हंगामा हुआ। आज पूरी दुनिया में फैले लगभग 80 करोड़ हिन्दी बोलने वाले लोगों को नजरअन्दाज करना बेहद मुश्किल है क्योंकि ये भाषाजीवी नहीं बल्कि 'वैश्विक उपभोक्ता' भी हैं। इस समय तकरीबन फेसबुक के ही दस करोड़ यूजर्स हैं। ढाई करोड़ के आसपास टिवटर के यूजर्स हैं। यू-टयूब की लोकप्रियता में भी खासा इजाफा हुआ है। भारतीय भाषाओं में सर्वाधिक कंटेंट हिन्दी भाषा के हैं। जबकि दस वर्ष सर्वाधिक यूजर्स और कंटेंट तमिल के हुआ करते थे। कहने का मतलब इस समय सर्वाधिक पाठक/यूजर्स हिन्दी के हैं। आज की दुनिया में

आज पूरी दुनिया में फैले लगभग 80 करोड़ हिन्दी बोलने वाले लोगों को नजरअन्दाज करना बेहद मुश्किल है क्योंकि ये भाषाजीवी नहीं बल्कि 'वैश्विक उपभोक्ता' भी हैं। इस समय तकरीबन फेसबुक के ही दस करोड़ यूजर्स हैं। ढाई करोड़ के आसपास टिवटर के यूजर्स हैं। यू-टयूब की लोकप्रियता में भी खासा इजाफा हुआ है। भारतीय भाषाओं में सर्वाधिक कंटेंट हिन्दी भाषा के हैं। जबकि दस वर्ष सर्वाधिक यूजर्स और कंटेट तमिल के हुआ करते थे। कहने का मतलब इस समय सर्वाधिक पाठक/यूजर्स हिन्दी के हैं। आज की दुनिया में हिन्दी बहुत बडा बाजार बन चुका है।

हिन्दी बहुत बड़ा बाजार बन चुकी है। इसे नजरअन्दाज करना मुश्किल है। बाजार, कारपोरेट और उद्योग जगत हिन्दी भाषी बाजार में पैठ के लिए अपनी रणनीति के तौर हिन्दी माध्यम का चयन कर रही है। हिन्दी चैनलों और विज्ञापनों की बढ़ती संख्या और भूमिका उसके बाहरी लक्षणों का प्रतिबिम्बन करते हैं। ऐसे में सरकार के मुँह मोड़े रहने का न कोई औचित्य है न जरूरत। उसे हिन्दी का मसला उठाना ही होगा। दामन बचाना सम्भव नहीं। लेकिन सरकार की असली चुनौती तब शुरू होती है, जब हिन्दी विरोध की लहर उठती है।

हिन्दी का मसला सामने आते ही दक्षिण भारत में विरोध का स्वर बेहद तीखा हो जाता है। वे हिन्दी को 'साम्राज्यी भाषा' के तौर पर लेते हैं। उन्हें लगता है कि उनकी मातृभाषा के ऊपर 'हिन्दी का साम्राज्यवाद' लादा जा रहा है। जबकि इसकी आड़ में, वे अपने ऊपर 'अँग्रेजी का साम्राज्यवाद' लाद रहे होते हैं। डॉ. राममनोहर लोहिया के लिए भी यह मसला बेहद पेचीदा था। उनकी समझ के बाहर था कि आखिर वे अँग्रेजी के साम्राज्यवाद को क्यों स्वीकारते हैं? हिन्दी के विकास को वे 'लादना' मानते हैं जबकि औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा लादी गई अँग्रेजी को सहजता से स्वीकार करते हैं। यह केवल गुलाम मानसिकता का मसला होता तो साठ साल बाद भी स्थिति में बदलाव क्यों नहीं है? भाषा का मसला रोजगार और बाजार से भी जुड़ा है; इसलिए यह समस्या विकराल रूप धारण कर उठ खड़ी होती है। बावजूद इसके भारत सरकार को अपनी समग्र भाषा नीति बनानी चाहिए और लोगों के सामने रखनी चाहिए। आँखें बन्द कर लेने से दुर्घटनाएँ नहीं रुका करती।

अमेरिका, इंग्लैंड, जर्मनी, इटली, सोवियत संघ आदि विकसित देशों के अनुभव बताते हैं कि मातृभाषा में कामकाज करने से देश की आर्थिक-सांस्कृतिक-शैक्षणिक उन्नति तेज गति से होते हैं। चीनियों की बढ़ती आर्थिक ताकत और वैश्विक स्तर पर महाशक्ति के रूप में उभार, जापान, रूस, कोरिया आदि देशों की आर्थिक तरक्की ने पुनः यह समझ पैदा की है कि मातृभाषा में काम करने से विकास की गति तेज होती है। इस बात को गांधी, टैगोर, लोहिया आदि बखूबी समझते थे और सम्पूर्ण विकास के लिए मातृभाषा को बढ़ावा देना चाहते थे। उसके पहले भारतेन्दु ने 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल/बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सुल' कहकर इस मसले को समझा और आगे बढ़ाया था। गांधी अँग्रेजी में फैले ज्ञान को लेने के विरोध में नहीं थे लेकिन वे अँग्रेजीवाद के पक्ष में नहीं थे। लोहिया, नेहरू के इस तर्क से बिल्कुल सहमत नहीं थे कि भारत को विकास के लिए अँग्रेजी के रास्ते आगे बढ़ना चाहिए। नेहरू अँग्रेजी को 'वैश्विक खिड़की' मानते थे जिसके बगैर हिन्दुस्तान शेष दुनिया के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता था। वे अँग्रेजी के माध्यम से ही प्रशासन चलाने के पक्ष में थे। उनके अनुसार, शोध, अनुसन्धान, विज्ञान और टेक्नोलॉजी तथा उच्च शिक्षा अँग्रेजी के बगैर संभव नहीं है। नेहरू ने अपने इन तर्कों के आधार पर सरकार की भाषा नीति तय की और अँग्रेजी को 14 साल तक के लिए बनाये रखने की न सिर्फ वकालत की बल्कि अमलीजामा भी पहनाया। काफी दबाब और विरोध के बाद यह कहा कि हिन्दी के विकास के साथ ही अँग्रेजी के कदम पीछे खींच लिए जायेंगे।

लोहिया के विचार इससे उलट थे। वे इन तर्कों से बिल्कुल सहमत नहीं थे। लोहिया का तर्क था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में हिन्दी 'देश जोड़क' भाषा थी। उस पर 'देश तोड़क' होने का आरोप बेबुनियाद है। भाषा का सवाल खड़ा करके देश की अखंडता को ही भंग करने की कोशिश हुई है। भाषावार प्रांत बनाकर नफरत की बेल बो दी गई है। यही विषबेल
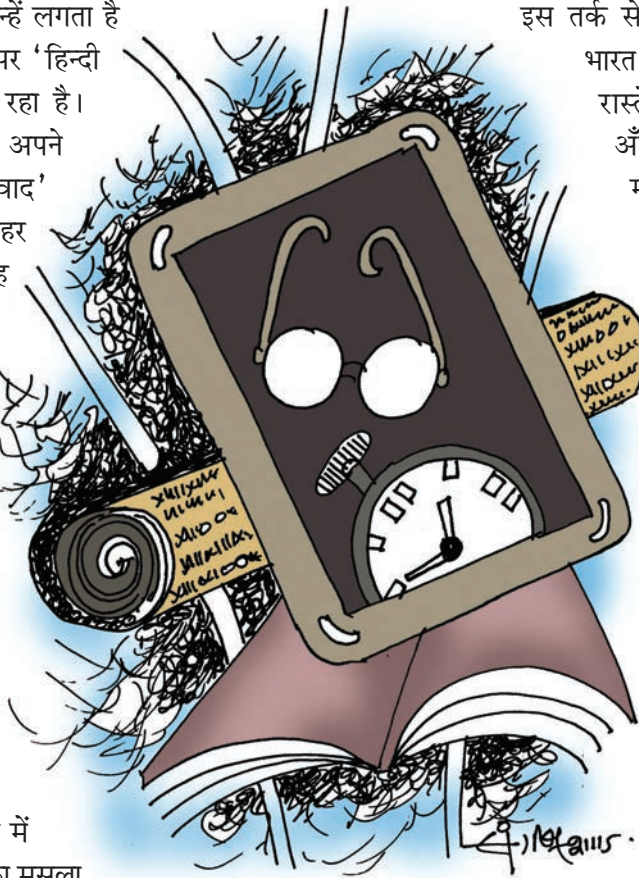
जब–तब भृकुटी टेढ़ी कर गर्दन उठाता है। भाषायी विवाद खड़ा कर 'बाँटो और राज करो' की नीति अपनायी गई। देश के एकीकरण में हिन्दी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हिन्दी की सर्जनात्मक क्षमता अँग्रेजी से कहीं अधिक है। हिन्दुस्तानी में सात लाख के करीब शब्द हैं तो अँग्रेजी में ढाई लाख के करीब। अभी भी हिन्दी भाषा की क्षमताओं का न तो पूर्ण विकास हुआ है न ही दोहन एवं प्रयोग। भाषा का विकास उसके प्रयोग और इस्तेमाल से सम्भव होता है। उसे सत्ता प्रतिष्ठान व विद्वान विकसित नहीं करते बल्कि साधारण जन विकसित करते हैं। जिस प्रकार बच्चा पानी में छटपटाये बगैर तैरना नहीं सीखता वैसे ही इस्तेमाल के बगैर भाषा नहीं मंजती। भाषा के संदर्भ में 'कोश निर्माण' और तकनीकी शब्द कोश निर्मिति के भी खिलाफ थे। यह भाषा के विकास का तरीका नहीं है। वे सरकार की ऐसी नीतियों की आलोचना करते हैं। दुर्भाग्यवश साठ साल बाद भी सरकारी कामकाज उसी ढर्रे पर चल रहा है। जरूरत इस बात की है इस सन्दर्भ में नयी नीति बनायी जाए। ज्ञानार्जन के मामले में भी लोहिया कहते थे कि छात्र और शोधार्थी मातृभाषा में आसानी से सीखते हैं।

गांधी की तरह लोहिया भी अँग्रेजी में फैले ज्ञान को हासिल करने के खिलाफ नहीं थे। वे कहते थे, अँग्रेजी ही क्यों?, ज्ञान जिस किसी भी भाषा में उपलब्ध हों उससे सीखा जाए लेकिन अपनी पठन-पाठन, शिक्षा और कामकाज की भाषा मातृभाषा हो। मैक्समूलर के हवाले से कहते हैं कि उसने संस्कृत सीखी जरूर लेकिन लिखा अपनी मातृभाषा जर्मन में।

गांधी की तरह लोहिया भी अँग्रेजी में फैले ज्ञान को हासिल करने के खिलाफ नहीं थे। वे कहते थे, अँग्रेजी ही क्यों? ज्ञान जिस किसी भी भाषा में उपलब्ध हों उससे सीखा जाए लेकिन अपनी पठन–पाठन, शिक्षा और कामकाज की भाषा मातृभाषा हो। मैक्समूलर के हवाले से कहते हैं कि उसने संस्कृत सीखी जरूर लेकिन लिखा अपनी मातृभाषा जर्मन में। चूँकि हिन्दुस्तान की बहुसंख्यक जनता अँग्रेजी नहीं जानती है इसलिए कोर्ट–कचहरी, सेना, पुलिस, सता–प्रतिष्ठान, अफसरों के द्वारा उनका शोषण होता है। जिसे जल्द से जल्द खत्म किया जाना चाहिए। अँग्रेजी सामान्य जनों के दिमाग और पेट पर लात मारने जैसी है। अँग्रेजी ज्ञान के बगैर अच्छी नौकरियों से लोगों को महरूम कर दिया जाता है। प्रशासन में अकुशलता, अक्षमता पनपती है। अँग्रेजी ज्ञान हासिल करने में ही लोगों का कचूमर निकल जाता है। अग्रेजी बनाये रखने का मतलब उच्च जाति और वर्ग की श्रेष्ठता को बचाये और बनाये रखने का उपक्रम है जिसे जल्द से जल्द तोड़ा जाना चाहिए। हिन्दुस्तान की क्रीमीलेयर नौकरियों, उद्योगों आदि में इन्हीं उच्च जातियों और वर्गों का दबदबा है। हिन्दुस्तान का बहुसंख्यक अपनी मातृभाषा में ज्यादा से ज्यादा योगदान दे सके और देश की अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाया जा सके– ऐसी संकल्पनाओं के साथ लोहिया तर्क कर रहे थे। ये बातें आज भी उतनी ही प्रासंगिक बनी हुई हैं।

पिछली सरकार और वर्तमान सरकार ने हिन्दी के लिए सर्कुलर जारी कर 'डि–कालोनाजेशन' की प्रक्रिया शुरू की कहना मुश्किल है। असली मसला ज्यादा लोगों तक सूचना पहुँचाने की है–इस बात में सच्चाई होने के बाद भी पूरी तरह से सही ठहराना हड़बड़ी होगी। हाँ, इस प्रक्रिया में दोनों बातें अंतर्भुक्त हैं। लेकिन सरकार की निगाह हिन्दी स्पीकिंग लोगों को 'उपभोक्ता' बनाने की भी है। हिन्दी भाषियों का बाजार और उपभोक्ता गाहे–बगाहे सरकार की नीतियों पर दबाब बनाये हुए है। सरकार की निगाह दुनिया के बाजार में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना है। इसका नतीजा यह हुआ कि अँग्रेजी को बढ़ावा दिया गया। शिक्षा नीति हो या बाजार नीति दोनों ही क्षेत्रों में अँग्रेजी को बढ़ावा दिया गया। यह सब बाजार और कारपोरेट और उसके पॉलिसीमेकर नियंता के हितों को ध्यान में रखकर किया गया। लेकिन वही कारपोरेट, बाजार अब बता रहा है कि हिन्दी भाषी सबसे बड़े बाजार हैं। उपभोग की क्षमता इनमें अधिक है इसलिए विज्ञापन, सूचना और तकनीक के माध्यम से वहाँ तक पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यह जरूरी है कि सरकार अपनी भाषा नीति बनाये। हिन्दी भाषी परिवार केवल उपभोक्ता बनकर न रह जाए बल्कि वह सांस्कृतिक–आर्थिक ताकत भी बने। सूचना, ज्ञान, अनुसंधान, शिक्षा, आर्थिक गतिविधियों और रोजगार का भी माध्यम बने।

सम्पर्क–असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
श्यामलाल कॉलेज, दि.वि., दिल्ली
मो. 9560143282

प्रेमनगर का फकीर : बुल्ले शाह

विनोद शाही

कालिदास के 'मेघदूतम्' से लेकर विद्यापति तक हमारे यहाँ 'प्रेम' के नाम पर जो साहित्य मिलता है, वह दरअसल 'श्रृंगार' से ताल्लुक रखता है। 'श्रृंगार' मूलत: एक सामन्तीय मनोभूमि से उपजा व्यवहार है जो काम और रूप-सज्जा से लेकर अध्यात्म या विरह तक फैला है, जिसमें देह केन्द्र में है; और जहाँ अध्यात्म भी 'राग-अनुराग' के बाद की 'विराग' दशा वाली देह-केन्द्रित वस्तु ही है।

उधर सूफियों का प्रेम या इश्क, हिन्दी साहित्य में पहली दफा कबीर की मार्फत 'प्रेम की अकथ कहानी' बनकर काव्य की केन्द्रीय विषयवस्तु की शक्ल पाता है। इस इश्क को सूफियों ने 'इश्के हकीकी' के रूप में चरितार्थ किया है और इसीलिए वे इसे प्रेम के दूसरे रूपों से अलहदा करते हुए ही अपनी जिन्दगी उसके हवाले करते हैं। बुल्ले शाह 'इश्क की गली' में पाँव रखते हुए पहले साफ कर देते हैं- 'इश्क मजाजी जिकर ना लागे।' दुनियावी प्रेम की तो यहाँ चर्चा तक के लिए कोई जगह नहीं है। और चूँकि कबीर-रैदास वाली सन्तधारा का सारा भाव-जगत, सूफियों के समानान्तर विकास करता है, इसलिए कबीर को भी शुरू में ही सावधान कर देना पड़ता है- 'जहँ काम तहँ प्रेम नहीं।' यहाँ साफ तौर पर नाथों-सिद्धों-तान्त्रिकों के काम-सम्बन्धी प्रयोगों और उनके अतिक्रमण की प्रक्रियाओं को 'पृष्ठभूमि' की तरह ग्रहण किया गया है, परन्तु फर्क यह है कि जहाँ नाथों-सिद्धों-तान्त्रिकों 'में' काम के अतिक्रमण की समस्या केन्द्र में है, वहाँ कबीर, सूफी-धारा के समानान्तर, इस अतिक्रमण को बस एक 'पृष्ठभूमि' की तरह रखकर, प्रेम के 'गहरे पानी में पैठने' का रास्ता निकाल लेते हैं।

भारत में सूफी न आये होते, तो हमने प्रेम के इन गहरे पानियों में पैठने से प्रकट हुई 'अबूझ दुनिया' में यों प्रवेश न किया होता—जैसे कि यह प्रेम की पीर से उपजी गायकी हमारी अपनी जमीन से उपजी, हमारी हड्डियों और खून में सदा से रची-बसी कोई वस्तु हो।

परन्तु निरगुनियों की मार्फत, भारत ने सूफियों को जितनी गहराई और शिद्दत से आत्मसात किया, उतनी तेजी से उस पूरी परम्परा को इतनी जल्दी भुला भी दिया जैसे कि वह अजनबी दुनिया कभी हमारी 'अपनी' बन ही नहीं पायी थी।

हमारी हिन्दी आलोचना ने कभी इस विरोधाभास पर ठीक से न 'नजर' रखी और न 'उँगली', क्योंकि ऐसा करते ही उसका भक्तिवादी ढाँचा और मध्य एशियायी सांस्कृतिक परिदृश्य के बरक्स आत्मवर्चस्वी दुराग्रह—दोनों पर आँच आ सकती थी।

पर बुल्ले शाह की 'प्रेम की गलियों से अटे-पटे उसके अबूझ-बेबूझ प्रेमनगर' में प्रवेश करने की यह पहली शर्त है कि हम अपने भक्तिवादी और भारतीय संस्कृति के आत्मवर्चस्ववादी आग्रहों से खुद को अलहदा रखें; ताकि प्रेम की मार्फत हासिल हो सकने वाले 'समन्वय' की जद में, केवल 'हमारा प्यारा भारत' ही नहीं आए, अपितु एक पूरा मध्य और दक्षिण एशिया हमें 'अपने तहज़ीबी इलाके' की तरह, उसी भाँति से मुखातिब नजर आ सके, जैसे 11वीं शती से लेकर 18वीं शती तक के दौर में हमें

भारत में सूफी न आये होते, तो हमने प्रेम के इन गहरे पानियों में पैठने से प्रकट हुई 'अबूझ दुनिया' में यों प्रवेश न किया होता—जैसे कि यह प्रेम की पीर से उपजी गायकी हमारी अपनी जमीन से उपजी, हमारी हड्डियों और खून में सदा से रची-बसी कोई वस्तु हो।

दिखाई दे सका है- भले ही तब उसकी शक्ल 'कुछ और' थी।

पुराण काल के आखिरी दौर में हमारे यहाँ प्रेम और भक्ति के बीच का तनाव या अन्तर्विरोध पाने लगता है। उदाहरण के लिए, भागवत पुराण में, जहाँ कलि काल है, वहाँ भारत पर होने वाले मध्य एशियायी 'म्लेच्छों' के हमलों की ओर इशारा किया गया है और बढ़ती हुई वर्णसंकरता तथा शूद्रों के उभार के हालात पर चिन्ता जतायी गयी है। प्रेम के बदलते स्वरूप पर मूल्यों के सम्बन्ध में यहाँ, जो बेहद प्रसिद्ध कृष्ण-कथा का भ्रमर-प्रसंग है, उसमें गोपियों के प्रेम के स्वायत्त भाव वाले महत्त्व पर उद्धव के योग की विजय दिखायी गयी है। यानी वहाँ कृष्ण योगेश्वर है और प्रेम के निर्गुण रूप के ग्रहण के पक्ष में है। सारा आख्यान 'भक्ति-केन्द्रित' है। फिर उस दौर के जो नारद और शांडिल्य के भक्ति-सूत्र हैं, उनमें भी प्रेम की व्याख्या 'अनुराग' या राग के बाद की भाव-दशा के रूप में है और अनुराग को पूजादि में समर्पित करके ये सूत्र भक्ति की विचारधारा का गठन करते हैं- 'पूजादिषु अनुराग' जैसे सूत्रों के द्वारा। बाद में भी रामानुज या वल्लभ भक्ति को ही विचारधारा के केन्द्र में रखते हैं और प्रेम को भक्ति के एक भेद-सख्य भाव की भक्ति के तहत रखते हैं। तथापि बाद के मध्य आदि आचार्यों के द्वारा 'प्रेमाभक्ति' वाला जो असम्भव समीकरण प्रस्तुत किया गया, उसे भी मूलत: प्रेम-वस्तु नहीं, भक्ति-वस्तु ही मानना उचित है, हालाँकि यह समन्वय-समीकरण उस दौर तक आते-आते 'प्रेम' के उत्तरोत्तर बढ़ते महत्त्व की सूचना अवश्य देता है।

भगवद्गीता में भक्ति-वर्चस्वी विचारधारा को 'भक्ति-योग' का नाम देकर, ज्ञान-योग व कर्म-योग वाली दूसरी दर्शन-धाराओं को उसमें समाहित किया जा चुका था। तथापि बारहवीं-तेरहवीं शती के सूफियों ने जब भारत में आकर नाथ-योगियों के साथ सम्पर्क स्थापित किया, तो इनके संवाद के भीतर से यहाँ जो समन्वय-समीकरण सामने आ सका, उसे नाथों और सूफियों ने जो नाम दिया, वह था 'प्रेम-योग'। यहीं से सूफियों के 'रांझे जोगी' के एक सुदीर्घ इश्क या प्रेम की परम्परा के एक नये नायक की तरह उभर आने का सिलसिला शुरू हो जाता है।

फकीर सूफियों और बेघर औघड़ नाथ-योगियों की प्रेम-योग की साधना व विचारधारा, 12वीं-13वीं सदी में उस वैष्णववादी भक्तियोग के उलट उसे चुनौती देती हुई खड़ी हो जाती है, जिसे अभी तक संकटग्रस्त नहीं हुई दक्षिण भारत की सामन्तीय व्यवस्था इसलिए बचाती है, क्योंकि इसकी मदद से वहाँ शूद्रों-दलितों-हाशिये के लोगों को आत्मसात करने व समाज की एकता-अखंडता को बचाये रखने में मदद मिलती है। और जबकि उत्तर भारत के नाथयोगी या सिद्ध, हाशिये के लोगों की विद्रोही भावभूमि को, खुद अपने पैरों पर खड़ा होने और तर्क व दर्शन की सम्भावनाओं को विकसित करने के लिए गुंजाइश पैदा करते हैं। मध्य एशिया और फिर अफगानिस्तान से, वहाँ के शासकों के द्वारा विस्थापित किये गये सूफियों के साथ, यों ही उनके रिश्ते स्थापित नहीं होते– वहाँ हालात और मानसिकता के दरम्यान कई चीजें साझी नजर आती हैं।

भक्ति की विचारधारा में प्रेम के मुमकिन हो सकने के लिए जगह ही कहाँ है?

भक्ति शब्द का ताल्लुक 'विभाजन' या 'अपने-अपने भाग' की व्यवस्था से है। संस्कृत व्याकरण में 'विभक्ति', भाषा में सामाजिक सम्बन्धगत विभाजनों या विभागों की कोटियों की व्यवस्था है– कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदाय, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण एवं सम्बोधन के रूप में। भाषा का यह सार अन्तर्विभाजन, दरअसल सामन्तीय श्रम-विभाजनों की उपज है। श्रम-विभाजन से उत्पादनमूलक विकास की रफ्तार तेज हो जाती है। मुनाफा सत्तामूलक विशेषाधिकारों की ऊँच-नीच पैदा करने का हेतु है। इससे जो संस्कृति उपजती है, वह पूजनीय वर्ग-विशेष का मुनाफों में हिस्सा निश्चित करती है। हमारे यहाँ भक्ति का ताल्लुक देवों या विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों या वर्ग-नायकों की 'यज्ञशेष' (या मुनाफे) में हिस्सेदारी अदा करते जाने की व्यवस्था से है। जन समाज की आय के तीसरे हिस्से से लेकर दसवें हिस्से तक पर देवों का 'भाग' रहता है और इस भाग-विभाग या विभाजन को सुनिश्चित करने वाली विचारधारा 'भक्ति' कहलाती है। वह मनुष्य समाज के हिस्से में आयी वस्तुओं में से कुछ का स्वेच्छा से देवता को अर्पण है। इस अर्पण व्यवस्था के आधार पर संस्कृत भाषा में समर्पण शब्द अपना अर्थ-विस्तार करता है और सामन्तीय व्यवस्था को निश्चित व मजबूत बनाने की वजह बन जाता है।

भक्ति के उलट प्रेम एक विचारधारा के रूप में पूर्व-सामन्तीय या कबीलाई है। तथापि भारतीय समाज के खास हालात में वह 'योग' की दर्शन-भूमि के तहत अभिव्यक्ति पाता है। यों ठीक से देखें तो कह सकते हैं कि कबीलाई समय की सृजनधर्मिता व संस्कृति विचारधारात्मक नहीं होती। विचारधारा के प्रकट होने के लिए वर्ग-विशेष के आधार की जरूरत पड़ती है। इसलिए वर्ग-पूर्व या वर्गविहीन संरचनाओं में दर्शन और विचारधारा एक 'अनुभूति' से ज्यादा मुखर नहीं हो पाती। परन्तु समाज के श्रम-विभाजित रूपों के आ जाने के बाद 'स्मृति' के आधार पर पीछे छूट गयी या खो गयी 'अनुभूति की सृजनात्मक अखंडता' को, स्पष्ट दर्शन या विचारधारा के रूप में पुनरुपलब्ध करके महफूज कर लिया जाता है। तो हमारे यहाँ जो पीछे छूट

गया था, उससे जुड़ना 'योग' कहलाया। यों भावानुभूतिगत रूप में योग प्रेम ही था। रस-दर्शन में प्रेम की इस परम-आद्य भूमि की केन्द्रीयता इस बात का सुबूत है। एक तरह से रस भी प्रेम के पर्याय की तरह ही है। कबीलाई दौर से सीधा रिश्ता रखने वाले सूफी दर्शन में इश्क का ताल्लुक 'मस्ती और बेपरवाही' से है। तो हमारे यहाँ प्रेम, रस या आनन्द दशा के पर्याय की तरह आया है। तथापि यह प्रेम-भाव, एक केन्द्रीय अवधारणा की तरह दर्शन या विचारधारा की शक्ल नहीं लेता, क्योंकि हमारे यहाँ सामन्तीय दौर की विचारधारा के रूप में आयी 'भक्ति' ने कभी 'प्रेम' को संकटग्रस्त नहीं बनाया। संकट की बात कुछ थी तो यह कि वह जो परम गहन या तार्किक अनुभूति दशा है, जो खो गयी है। उससे फिर कैसे जुड़ें? तो प्रेम की जगह जो भक्तिमूलक 'समर्पण' आया, उसमें भारत के खास हालात के तहत, एक उदार और मानवीय आपसदारी बहुत दूर तक बनी-बची रह सकी, जिससे भारत में उसे ही प्रेम का पर्याय बनाने और मानने के लिए एक भूमिका बन सकी। इसके उलट अगर कहीं हमारे यहाँ भी मध्य एशिया या यूरोप वाले हालात होते, तो समर्पण में 'दमन' का अनुपात ज्यादा होने की वजह से बात सीधे 'प्रेम' को एक अनुभूति के रूप में बचाने की हो गयी होती। इसलिए बाद में 12वीं-13वीं शती में जब सूफी विचारधारा अपने साथ 'इश्के हकीकी' का विकल्प लेकर आती है, तो उसका नाथ-योगियों के साथ सीधा अनुभूतिमूलक रिश्ता यहाँ वर्चस्व में बनी हुई भक्ति पर आ जाता है और वह खुद को ऐसा रूप देने की कोशिश करती है, जिसमें 'समर्पण' भी प्रेम का पर्याय ही नजर आने लग सके।

सूफियों और योगियों- दोनों के लिए प्रेम एक 'ज्ञान-दशा' है। इश्के हकीकी की ज्ञानदशा की व्याख्या सूफियों ने 'वहदत-उल-वुजूद' यानी अस्तित्व मात्र में सब कहीं उसके समाये होने की अनुभूति की तरह की है। यह एक तरह की सर्वेश्वरवादी विचारधारा है। योग में भी अस्तित्व को प्रकृति के अन्तर्बाह्य रूपों में देखते हुए, उन रूपों के साथ एकाकारता या तदाकारता वाली समाधि वाला रास्ता खोजा गया है। यह समाधि संकल्प-विकल्प वाली (यानी विचारधारात्मक) ज्ञानदशा भी हो सकती है और निर्विकल्प यानी तदाकारता में विलय वाली दशा थी, जिसे सूफी 'फना और बका' यानी विलय और नि:शेषता का नाम देते हैं। इस तरह यहाँ इश्क या प्रेम, ज्ञान की एक मात्र अन्तर्वस्तु मालूम पड़ता है।

परन्तु भक्ति की वर्चस्ववादी सियासत में 'ज्ञान-योग' को भाव या प्रेम के विरोध में प्रचारित किया गया। ज्ञान को भक्तिवादी जटिल कर्मकांड का पर्याय बनाकर भावदशामूलक

समर्पण को अपनाने की सलाह देते हैं। हालाँकि सूफी और योगी भी कर्मकांड या शरीअत से एकदम राजी नहीं हैं, परन्तु भक्तिवादियों की तरह वे 'ज्ञान' के विरोध में नहीं जाते। यह अन्तर्विरोध भक्तिवादी विचारधारा का भी संकट है जिसके पार जाने के लिए वे 'भक्तिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा' कहकर भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता का दावा पेश करते हैं। इस पूरे झगड़े को ठीक से देखा-समझा जाए, तो सही अर्थ में वह केवल 'समर्पणमूलक प्रेम' और 'ज्ञानमूलक प्रेम' के बीच के भेद का झगड़ा मात्र है। इसीलिए दोनों विचारधाराएँ प्रेम को 'परम ज्ञान' घोषित करके झगड़े का निपटारा करती हैं। सामन्तीय वर्चस्ववाद का कोई विकल्प न होने की वजह से, इस तरह भारत की जो बड़ी हानि होती है- वह यह है कि हमारे यहाँ ठीक से ज्ञान-दर्शनमूलक नवजागरण का विकास होने से रुक जाता है; या कह सकते हैं कि वह भक्तिकाल में होता-होता मुल्तवी हो जाता है और ऐसा इसलिए होता है कि भक्तिवादी वर्चस्व के चलते, धीरे-धीरे सन्तों-सूफियों की विचारधारा की तेजस्विता मन्द होती-होती कुन्द हो जाती है।

बुल्ले शाह उस महान नवजागरणमूलक प्रेम-धारा के आखिरी महान कवि की तरह जो गीत गाते हुए विदा होते हैं, वे आज भी हमें अपनी 'परम ज्ञान की प्यास से उपजी अधूरे प्रेम की पीड़ा' का पर्याय मालूम पड़ते हैं और इसीलिए सीधे हमारे हृदय में प्रवेश करने लायक हो जाते हैं।

मनुष्य उस इश्क की तलाश में है, जो उसकी कुदरत या कायनात के साथ तदाकारता को फिर से पाने लायक बना दे। हालाँकि यह तदाकारता या फना-बका की स्थिति भी हमारी एकदम 'कुदरती' सामर्थ्य, परन्तु चूँकि हमने श्रम-विभाजित और पितृसत्तामूलक समाज वाले विकास के दौर में प्रवेश करने की वजह से उसे खो दिया है, इसलिए अब उसके लिए साधना

एवं मददगार मुरशद या गुरु की जरूरत पड़ने लगी है, शरआ का कर्मकांड, साधना की तरीकत और नबी-पैगम्बरों की 'मारफत' से होता हुआ ही अब हमें उस सत्य की 'हकीकत' में प्रवेश करने लायक बना पाता है। पर सूफी अथवा सन्त, उस सामर्थ्य को मनुष्य की कुदरती एवं सहज-सिद्ध सम्भावना मानते हैं; इसलिए वे बस इश्क या प्रेम में डूबकर ही पार हो सकने की बात उठाते हैं। यह कैसे मुमकिन हो सकता है?- इसे समझने की कोशिश करते हैं।

साहिब कुदरती सेती आया

बुल्ले शाह के कलाम में 'साहिब' और 'कुदरत' के बीच अलहदगी नहीं है। हमारे यहाँ श्रम-विभाजन और पितृसत्ता की आमद के बाद सांख्य दर्शन में खोयी हुई एकाकारता में वापसी के लिए, प्रकृति-पुरुष की अखंडता की बात उठायी गयी। प्रकृति मूल है, स्त्री बुनियाद है और 'पुरुष' पितृसत्ता की वजह से वर्चस्वी होने के बाद, अपने कुदरती सार से टूट गया है। तो वापसी के लिए कोशिश भी पुरुष को ही करनी है। और जब वह वापसी के लिए कोशिश करता है, तो हैरान होकर पाता है किजिस कुदरत को उसने अपने अधिकार या नियन्त्रण में आई वस्तु समझा थ, वह तो वहाँ 'पार' मौजूद, अभी तक 'बेपरवाह' रूप में आत्मस्थित है। बुल्ले शाह इस सच्चाई को पहचानते हैं और इशारा करते हैं-

'वाह! वाह! कुदरत बेपरवाही ए
एवें कैदी दे सिर शाही ए
ऐसा बेटा जाया माई ए
सभ कलमा उसदा कहिन्दी ए
मुँह आयी बात ना रहिन्दी ए।'

यानी वाह, वाह, कुदरत तो बेपरवाह है। ऐसे ही (समाज-राजनीति की दुनिया में) कैदियों के सिरों पर शाही सत्ता बिठा दी गयी है। कुदरत के रूप में ईश्वर के मातृ रूप ने ऐसा बेटा जनी है, जिसका सारे शास्त्रों के कलाम बखान करते हैं।

परम सत्य को स्त्री या मातृ रूप में देखने की बात कबीलाई मूल की है, जो पितृसत्ता के अन्तर्विरोधों से उबरने की प्रक्रिया में एक सांस्कृतिक विकल्प की तरह यानी एक नयी शक्ल में हमें पुनरुपलब्ध होती है।

बुल्ले शाह 'वज्द' या समाधि की दशा में जिस आन्तरिक सत्य का उद्घाटन करते हैं, वह मनुष्य की चेतना की तहों में दबे-छिपे मातृसत्ता वाले सभ्यतामूलक इतिहास में वापसी तक ले जाता है। खुद को 'स्त्री रूप' या 'मातृ रूप' में देखने की बात सन्तों में भी मौजूद है, परन्तु वहाँ वह 'दुल्हन' के प्रतीकार्थ को ही ज्यादा उभारती है। वह एक 'पुरुष' के स्त्री रूप में 'आत्म-साक्षात्कार' का भाव जगाती है। परन्तु बुल्ले शाह पूरी समग्रता में उस मातृ रूप के साथ तन्मय-एकाकार हो जाते हैं और कई दफा बड़ी अद्‌भुत व हैरान करने वाली बातें करते हैं-

'ना मैं ब्याही, ना कुँवारी बेटा गोद खेलावांगी।'

यानी यहाँ 'पुरुष सत्ता' के ईश्वर-रूप की ही जैसे कोई अहमियत दिखाई नहीं देती। पुरुष स्त्री को विवाह और कुँवारेपन की मर्यादाओं व विभेदकों में बाँधकर अन्तर्विभाजित करता है। यानी पुरुष, स्त्री में, विवाह या कुँवारेपन की स्थितियों के रूप में मौजूद होता है। स्त्री, पितृसत्ता का अतिक्रमण तभी कर सकती है, जब वह न 'विवाहिता' होने को राजी है, न 'कुँवारी' रहने को; परन्तु फिर भी 'मातृत्व' पर उसका अधिकार हो। यानी मातृत्व को पुरुष या पति के ठप्पे या मोहर से आजादी दिलाकर ही स्त्री पितृसत्ता के अन्तर्विरोधों से उबर सकती है। सामाजिक-सभ्यतामूलक नजरिये से भी देखें, तो मातृसत्ता के दौर में बेटों के नाम, माँ के नाम से जाने जाते रहे हैं जैसे गांगेय या कौन्तेय जैसे नाम पुरुषों के पहचानवाची नामों की तरह मशहूर हैं। परन्तु यहाँ रहस्योक्ति के रूप में, बुल्ले शाह के कथन, मौजूदा पितृसत्ता के अन्तर्विरोधों से उबारने वाली चित्तदशा या चेतनाधर्मिता की तरह हमारे तत्कालीन यथार्थ के विकल्प को सामने लाते हैं। यहाँ मातृत्व एक आत्मस्वायत्त वस्तु है। ईश्वर या अल्लाह से भी जैसे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। 'बेटा' पर्याप्त है। ईश्वर को बेटे के रूप में 'अपनी रचना' या सृजन की तरह उपलब्ध करने से ही असल क्रीड़ा (खेल) या लीला-भाव उपलब्ध होता है। यहाँ मनुष्य, स्रष्टा का विकल्प हो गया है। बुल्ले शाह इसे दोनों तरह से देखते हैं- मनुष्य की परम-स्वायत्तता की तरह भी और 'परम सत्य' के आप अपने साथ खेलने की 'हकीकत' की तरह भी, जहाँ ईश्वर ऋतु-चक्र या 'बारहमासे' की तरह 'समय में अन्तर्विभाजित' है-

भादरों रब्ब ने भाग जगाया
साहिब कुदरती सेती आया
हर विच्च हरि ने आप छुपाया
शाह इनायत आप लखाया तां मैं लिखिया।

यानी रब ने भाद्रपद में भाग्य जगा दिया है। साहिब कुदरती मौलिक रूप में उपलब्ध हुआ है। उस हरि ने खुद को हर एक में छिपा रखा है। उसने शाह इनायत को स्वयं अपना आप दिखाया, तो मैं उसे देख सका।

यह है बुल्ले शाह की 'माई के बेटे' यानी कुदरत का खेल, जिसे हम 'रब्ब के नाम से देखते-जानते हैं।

भारतीय दर्शन में पुरुष-प्रकृति के जोड़े के रूप में जिस

अखंड सत्य को देखा गया है, उसमें पुरुष की प्रधानता पितृसत्ता के दौर की शुरुआत की ओर इशारा करती है। बाद में भक्तिधारा के तहत कृष्ण-भक्ति ने अपने कबीलाई इतिहास की तहों व बुनियादी रूपों से कुछ सम्पर्क जरूर साधा, परन्तु वहाँ यशोदा का मातृ-पक्ष और गोपियों का स्त्री-पक्ष- दोनों कृष्ण की प्रधानता की स्थिति को दर्ज करते हैं, हिन्दी में सूफियाना स्त्री-प्रधान विमर्श का अभाव रहा है- यहाँ सूफी अद्वितीय व मौलिक है।

सहु बुल्ले दे सिर विच बुरका

'बुल्ले के पति के सिर पर बुरका है' यानी जिसे हम पति-परमेश्वर या पुरुष-रूप में देखते हैं, वह दरअसल स्त्री-रूप है। इस पूरे पद को देखें-

'विच्च मिसर दे वाँग जुलेखा, घूँघट खोल रुलाया है
सहु बुल्ले दे सिर विच बुरका, तेरे इश्क नचाया है।'

यानी मिस्र में वह जुलेखा की तरह है, जो घूँघट खोलकर रुला देता है (सौन्दर्य की पराकाष्ठा की वजह से)। उस पति का मुँह-सिर बुरके से ढका है, इसलिए उसके प्रति इश्क ने नचाया हुआ है।

सहु, साहिब, पति जैसे पुरुषवाचक शब्दों का अर्थ-रूपान्तर बुल्ले के यहाँ बड़े सहज रूप में है। वहाँ स्त्री केन्द्र में है और जो केन्द्र में है, वही स्वामी या पति है। पुरुष अपनी उस केन्द्रवर्ती धुरी से भटक गया है, इसलिए यह उसका संकट है कि उसे अपने इश्क की मार्फत रिझाये और हासिल करे। वह अपार सौन्दर्य उससे छिप गया है- वह घूँघट या बुरके में है, परन्तु इश्क की कुंजी से वह पर्दा चला जाता है। कृष्ण-धारा में, कृष्ण के कुंजों में छिप जाने का जो रूपक है, वह 'उधार की चीज' लगता है, जिसे सूफी परम्परा से लिया गया होगा। इसकी वजह साफ है- छिपना या खुद को छिपाना पुरुष का नहीं, स्त्री के स्वभाव का लक्षण है। और दूसरी बात जो ज्यादा अहम है, वह यह है कि कृष्णधारा की 'प्रेमा-भक्ति' में राधा या गोपियाँ कभी ईश्वर या ब्रह्म का पर्याय नहीं हो पातीं। वह आद्यन्त पुरुष-वर्चस्वी विचारधारा है, जिसे प्रेम या इश्क की चुनौती के बरक्स रूपान्तरित करने की असफल कोशिश की गयी है। कृष्ण-भक्ति की इस असफलता के दो पक्ष हैं, जो उसे रीतिकालीन पतनशीलता में ले जाते हैं।

पहला यह कि पुरुष-वर्चस्वी विचारधारा होने की वजह से वहाँ इश्क या प्रेम, कृष्ण को एक 'आवारा आशिक' में बदलता है, जिसके लायक कृष्ण जैसा व्यक्तित्व हो ही नहीं पाता इसलिए पूरी वयस्क कृष्ण-कथा को खारिज करके, केन्द्र में किशोर कृष्ण को लाकर बिठा दिया जाता है। यह हास्यास्पद लगता है। बारह-तेरह बरस की उम्र में कृष्ण सन्दीपनी के आश्रम का रुख कर लेते हैं। इससे गोपियों व बाल-कृष्ण के बीच का प्रेम अटपटा हो जाता है। बेशक, इस वजह से वात्सल्य प्रेम जरूर सहज हृदयग्राही हो जाता है, परन्तु वहाँ भी कृष्ण-कथा, पुरुष-नायक की अलौकिकता को कथा पर आरोपित करती रहती है। ईश्वर को स्त्री-रूप में देखने की बात न हमारे कृष्ण-कवियों को भाती है, न सन्तों को ही। पर सूफियों के यहाँ कोई अड़चन नहीं। वहाँ अल्लाह जुलेखा जैसा है और पुरुष साधक है, भटकने वाला प्राणी है। यही वह आधारभूमि है, जिसकी वजह से रांझा जोगी सूफी काव्य का महानतम नायक हो जाता है। उसके लिए हीर ही अल्लाह है। उसके लिए, इसीलिए, दिल ही काबा है। हीर के लिए वह सब कुछ छोड़ सकता है। योग को भी। गोरखनाथ से रांझा कहता है कि अगर उसके योग से उसे हीर नहीं मिल सकती, तो वह उसके टीले (पर बने साधना के आश्रम) की ओर रुख करके कभी पेशाब तक करना भी पसन्द नहीं करेगा। यह एक साधना-अतिक्रमी समग्रता है, जो रांझे को 'असल जोगी' बनाती है। इस तरह अल्लाह सौन्दर्य और नेमत या प्रसाद है, जो स्त्री जैसा है; और पुरुष साधक का विलय है, जो इश्क की मार्फत घटित होता है।

भारतीय दर्शन में पुरुष-प्रकृति के जोड़े के रूप में जिस अखंड सत्य को देखा गया है, उसमें पुरुष की प्रधानता पितृसत्ता के दौर की शुरुआत की ओर इशारा करती है। बाद में भक्तिधारा के तहत कृष्ण-भक्ति ने अपने कबीलाई इतिहास की तहों व बुनियादी रूपों से कुछ सम्पर्क जरूर साधा, परन्तु वहाँ यशोदा का मातृ-पक्ष और गोपियों का स्त्री-पक्ष- दोनों कृष्ण की प्रधानता की स्थिति को दर्ज करते हैं, हिन्दी में सूफियाना स्त्री-प्रधान विमर्श का अभाव रहा है- यहाँ सूफी अद्वितीय व मौलिक है।

मैं कुझ हो गई होर नी

बुल्ले शाह बड़े सहज रूप में खुद को एक स्त्री के रूप में पेश करते हुए कह पाते हैं कि प्रेम या इश्क ने उन्हें 'कुछ और' ही बना दिया है। एक जगह वे दीवानगी में कहते हैं- 'तेरे इश्क नचाया कर थैया थैया'। यहाँ हमें उस मीरा दीवानी की याद हो आती है, जो इस तरह कह उठी थी- पग घुँघरू बाँध मीरा नाची

रे। स्त्री के लिए स्त्री-रूप में कृष्ण की प्रेम-साधना सहज है, इसलिए पूरी कृष्ण-भक्ति धारा में मीरा अलग खड़ी दिखाई देती है। परन्तु उस दौर तक आते-आते कृष्णभक्ति में, सूफियों के असर से, जो गोपिका-भाव या स्त्री-भाव वाली साधना का विकास हो रहा था, वह उतना ही असहज और रीतिकालीन पतनशीलता में जाने की वजह बन रहा था। सूफी धारा में ईश्वर का स्त्री-रूप, पुरुषों में स्त्रीभाव के 'कुझ होर' (कुछ और) रूप का आधार बनता है, जिसके अभाव में स्त्रियाँ भी उतनी ही पतनशील व कुत्सित हो सकती हैं, जितने पुरुष। सन्तों को स्त्रियों के इसी रूप की (कामिनी रूप की) गिरावट से फिक्र होती थी– सूफी 'इशक मजाजी' के पार चली गयी स्त्री में अल्लाह के नूर की झलक पाते हैं। तो जैसे ईश्वर स्त्री-रूप है, उसी अर्थ में पुरुष स्त्री-रूप होकर, 'कुझ होर' होने की यात्रा में उतरता है। जबकि कृष्णभक्ति में गोपियों का शृंगार करके स्त्री-रूप धारण करने वाले पुरुष एक 'भोंड़ी' रीतिकालीन गिरावट की ओर चले जाते हैं। रांझे का हीर होना और बात है, क्योंकि वह एक पुरुष का स्त्री-रूप वाले परम सत्य में विलय होना है। इसलिए सामान्य स्त्री-रूपी हीर के लिए रांझा भी ईश्वर-रूप है और साध्य है। यानी सूफी विचारधारा में न स्त्री के लिए पुरुष मंजिल है, न पुरुष के लिए स्त्री; अपितु दोनों के लिए उस परम-सत्य में फना होने की शर्त है, जिसके बाद दोनों पाते हैं कि वह ईश्वर खुद स्त्री और पुरुष बनकर एक-दूसरे को रिझाता है– सस्सी दा दिल लुट्टण खातर, आप पुन्नु बन आया है।

इस बात का मतलब इतना ही है कि ईश्वर या परम सत्य की स्त्री या पुरुष के रूप में अभिव्यक्ति हमारे सम्बन्ध में है और खुद ईश्वर का वह कोई अपना चुनाव नहीं है।

वह हमारे सम्बन्ध में भी 'कुछ होर' होने का संकट है- यानी अपने स्त्री और पुरुष रूप के विलय के द्वारा, परम सत्य की अभिव्यक्ति के लायक होने भर का मामला है।

'प्यार आप जमाल विखाली,
होए कलन्दर मस्त मवाली
हंसां दी हुण वेख केचाली,
भुल्ल गई कागाँ टोर वे
मैं कुझ हो गई होर वे।'

यह प्रेम के जमाल का खुद उसके द्वारा उद्घाटन है, जिसे देखकर कलन्दर मस्त मवाली जैसा हो जाता है। यह 'मेरे कुछ और ही हो जाने' का सुबूत है। वहाँ परम सौन्दर्य का जमाल है। वह स्त्री-रूप है या पुरुष-रूप– क्या फर्क पड़ता है? बुल्ले शाह कलन्दर को तो बस इतना पता है कि उसे देखते ही वह आनन्द से झूमने लगता है, काग से हंस हो जाता है।

जद दी मुरली काहन बजाई

रीतिकालीन शायर होते हुए भी सूफी बुल्ले शाह कृष्ण-भक्ति के नितान्त गैर-रीतिवादी रूप को साधने और आत्मसात करने में कामयाब होते हैं–

बुल्ले शाह मैं तद विरलाई
जद ही मुरली काहन बजाई
बौरी होई ते तैं वलधाई।

यहाँ बुल्ले शाह खुद एक गोपिका की तरह नजर आते हैं और कहते हैं कि मैं तब अचानक विलाप कर उठा, जब से मैंने कान्हा को मुरली बजाते सुना। तभी मैं पागल हो उठी और कान्हा की ओर ही उठकर दौड़ती चली गयी। यहाँ 'विलाप' शब्द में सूफी 'हकीकत' के बीज छिपे हैं। मुरली हमारे अधूरेपन को, सत्य से दूर होने के कटु सत्य को उजागर करती है। वह हमें विकल्पहीन कर छोड़ती है और हमारे पास उसकी ओर उठ दौड़ने के अलावा कुछ और चारा नहीं रहता। ठीक से देखें तो बुल्ले शाह यहाँ खुद को हीर और कृष्ण को रांझे की तरह पाते हैं। बुल्ले शाह की यह जमीन उन्हें रीतिकालीन पतनशीलता से उबार लेती है। वे किसी शाह या सामन्त के चाकर नहीं हैं। उनका सत्य 'शाहों के शहंशाह' के मुखड़े की तरह उनके सामने उजागर रहता है–

बुल्ला शाह तं शाहां दा मुखड़ा
घूँघट खोल विखाई, आपणे संग रहाई।

पर यह शाह कहीं और नहीं, अपने संग रिहायश करने वाला कोई है।

प्रीतम पास ते टोलणा कीहनू

वह प्रीतम निकट हो तो खोजने के लिए कहाँ, किसे खोजें? इसलिए हमारा हीर होना पर्याप्त है और वह काहन या रांझा हमारे 'आँगन में ही घुसा' दिखाई देने लगता है–

रांझा साडे वेहड़े वड़िया
हत्थ खूंडी मोड्ढे कम्बल धरिया
चाकां वाली शक्ल बणाई।

यह है लोक-जीवन का सौन्दर्य। एक पशु चराने वाले के रूप में वह परम सत्य दिखाई दे रहा है। उसके हाथों में लकड़ी की लाठी है और कन्धे पर कम्बल है और वह साक्षात् अल्लाह ही है। सामन्तीय अभिरुचियों वाली कलापूर्ण रूप-सज्जा के लिए न किसी को फिक्र है, न जरूरत। न पीताम्बर सजाने की गुंजाइश है और न त्रिभंगी में खड़े होकर राम को रिझाने की

विलास-साधना है। मक्खन से लिपटे, धूल-धक्कड़ से भरे बाल कृष्ण की तरह रांझा भी किसी साज-सज्जा का मोहताज नहीं है। इसलिए वात्सल्य का चरण अगर बालगोपाल में है, तो प्रेम की अब तक की गयी सर्वाधिक ऊँचाई रांझे में है। और वह हाव-भाव चरण-शिख के शृंगार से सधने वाली वस्तु नहीं, जहर का प्याला पीकर विलय हो जाने से मिलने वाली हकीकत है।

बुल्ले शाह इस सौदा कीता, पीता जहर प्याला पीता
ना कुझ लाहा टोटा कीता, दरद दुखाँ दी गठड़ी चाही
आओ सहियो रल देओ नी बधाई, मैं वर पाया रांझा माही।

जहर पीने और दरद-दु:खों की गठरी उठाने से ताल्लुक रखने वाले इस इश्क के मार्ग पर भी, रांझे को वर की तरह पाते हुए हीर सखियों से बधाई पाने की उम्मीद रखती है, क्योंकि यही हमारे लोक-जीवन का सार-सत्य है, जिसे विलास की परछाई भी छू नहीं पाती।)

बुल्ले शाह का इश्क पितृसत्ता के अन्तर्विरोधों से जूझता-टकराता मानव-समाज के सभ्यतामूलक इतिहास के मातृसत्ता वाले दौर के बुनियादी रूपों को फिर से जीने लायक बनाने की हद तक गहराता है; लोक-जीवन की सहज और संघर्षों-पीड़ाओं से भरी दुनिया के भीतर से आत्मवान होने की शिद्दत भरी चाहत के साथ हमारा हमकदम होता है और इस तरह वह धर्मों-मजहबों की कर्मकांडीय साधनाओं वाली तंग गलियों और सामनतीय पतनशीलताओं की सड़ांध भरी कीचड़ को जाने कहाँ दूर मौजूद अजनबी व गैर-जरूरी दुनिया में बदल देता है। इस तरह वह भाव-भक्ति की बजाय, सीधे आत्म और सर्वात्म के दर्शन-लोक के आकाश में उड़ने वाले एक आजाद पंछी की बेपरवाह परवाज बनकर सामने आता है।

रांझे योगी के हिन्दुस्तान का शहंशाह

कन विच मुन्दरां, गल विच गानी, सूरत इस दी यूसुफ सानी
इस अलफों अहल तणाया, रांझा जोगड़िया बण आया।

—बुल्ले शाह

इसके कान में योगियों की मुद्रा है, गले में गानी अर्थात ज्ञान-तन्त्र का ताबीज या आभूषण है। इसकी सूरत यूसुफ से मिलती है। इसने अलफ (अ के अक्षर वाले रूप) से अहल (अरूप) की रचना की है। वह रांझा योगी बनकर आया है।

रांझे का योगी बन जाना बहुत अर्थपूर्ण है। इस महान सांस्कृतिक घटना के पीछे यह बात छिपी है कि कोई 'योगी' रांझा नहीं हो सकता है। रांझा योग की अन्त:सम्भावना नहीं है। परन्तु रांझे का वह कुदरती अन्तर्विकास जरूर है। ठीक से देखें तो इस पंक्ति के अर्थ पकड़ में आ जाएँगे। रांझा, बुल्ले के हिन्दुस्तान में योगी और योग की परम्परा का पुनर्जन्म है। योग, रांझे के माध्यम से इस कदर रूपान्तरित और आत्मीय हो जाता है कि उसे परम्परागत योग की तरह देख पाना ही नामुमकिन हो जाता है। रांझे की मार्फत, योग, भारत में पहली दफा, हमारे लोकचित्त में, हमारे रांझे भावलोक में प्रवेश करता है। बुद्धि की छलनी से छनकर आयी ज्ञान की साधना रांझे के जरिये हमारे हृदय की धड़कन हो जाती है। ज्ञान और भाव की, मस्तिष्क और हृदय की ऐसी एकरूपता, ऐसी अनन्यता और किसी रूप में ढूँढ़े नहीं मिलेगी।

यह बात बड़े ताज्जुब की है कि नाथ-योगियों की 'कनफटिया' योग-मुद्राएँ और ज्ञान के तन्त्र-यन्त्र के प्रतीक रुद्राक्षों की मालाएँ जब रांझे के कानों और गले का शृंगार बनती हैं, तो उनमें कहीं कोई साधना की कठोरता और रूखापन दिखाई नहीं देता। उन्हें पहनकर चलने से कहीं कोई संसार या गृहस्थ से विरोध नजर नहीं आता। रांझा योग को जैसे सभी तरह के नकार, निषेध और विरोध भाव से ऊपर उठाकर, उबार लेता है। योग उसके साथ चलता हुआ इतना सहज और कुदरती हो जाता है कि हर कोई उसे दिल में बसा लेने और जीने की विधि बना लेने के लिए प्रेरित हो उठता है। निश्चय; किसी योगी के लिए ऐसा कर पाना करीब-करीब नामुमकिन है। रांझा योग की एक नयी पराकाष्ठा है।

भारत की तहज़ीब के ऐसे समन्वयात्मक सार की तरह रांझे की अलख जगाने वाला बुल्ले शाह तो शाहों का शाह है, और ऐसा इसलिए है क्योंकि वह मध्य एशिया से लेकर हिन्दुस्तान

तक की, यूसुफ से लेकर रांझे तक की, व्यापक लोक-परम्परा को योग और सूफी-विमर्श की ऊँचाइयों तक उठा ले जाता है; और वह भी इतना सहजता से कि जैसे उसने कुछ किया ही न हो। देखकर वाकई हैरानी होती है कि कैसे यह रांझा योगी-मुद्राएँ और रुद्राक्ष-मालाएँ पहनकर अलफ के भीतर से अहल के स्वाद को चखने की हद तक चला जाता है? कैसे वह इस्लाम के सार और भारत के दर्शनों की गहराई को एक साथ एक ही अखंड अनुभव में ढालने में कामयाब हो जाता है? कैसे?

रांझे के योगी होने का अर्थ है—योगदर्शन को प्रेमदर्शन में दीक्षित करना; साधना को हृदय की वस्तु बना देना और निरंजन को मानवीय रिश्तों की काजर-कोठरी में प्रवेश दिलाकर 'हर हर में हरि' की तरह नाच उठना। बुल्ले के द्वारा साध लिये गये इस सूफी-भाव की गूँज-अनुगूँज हमें आज के दौर की शायरी तक में उसी ताजगी और उसी दीवानगी से भरी सुनाई दे सकती है— 'कूचे को तेरे छोड़कर, जोगी ही हो जाएँ मगर, बस्ती तेरी, जंगल तेरा...' यह कारीगरी कुछ इस तरह की है कि इसमें हिन्दू का मुसलमान जैसा आचरण करना या मुसलमान का हिन्दू रीति-रिवाजों को अमल करना पराया या अजनबी मालूम नहीं होता।

'मैं बहसाँ जोगी दे नाल नी माये, मत्थे तिलक लगा के'

मेरी माय! मैं तो अब योगी के साथ ही जा बैठूँगी और माथे पर तिलक लगाकर वहाँ रहूँगी।

और इतने-भर से भी बात न बने तो नाथयोगी होने के लिए जितने कर्मकांड मुमकिन हो सकते हैं; उनसे भी इस प्रेम-दीवानगी को कोई परहेज नहीं।

गल मिरजानी सीस खप्परिया
जोगन नाम बहुलय धरया
अंग भभूत रमायो रे।

सीस खप्पर और अंग-भभूत वाला यह साज-सिंगार, जोगन हीर को ऐसा 'फबता' है कि निरंजन को 'रांझे की शक्ल लेकर' उसके पास आना ही पड़ता है और ऐसा भी है कि अगर अल्लाह या निरंजन को रांझा हो जाने की शर्त मंजूर नहीं, तो फिर वे इस प्रेमयोग की रीति के मुताबिक किसी काम के नहीं। और जो बात हीर के लिए सच है, वही रांझे पर भी लागू होती है। रांझा गोरखनाथ से योग की दीक्षा लेता है। परन्तु उसकी शर्त भी वही है। क्या योग की मार्फत उसे उसकी हीर मिल सकती है या नहीं? अगर नहीं, तो वह 'गोरख के टीले की ओर कभी मुँह भी करना पसन्द नहीं करेगा।' इसीलिए रांझे का काबा जो है, वह तख्त हजारा है, मक्का-मदीना नहीं। लाहौर का तख्त हजारा। उसके मुरशद इनायत शाह का है। जहाँ से अल्लाह के यहाँ सीधी 'कुंडियां' पड़ती हैं : इससे ज्यादा और क्या चाहिए? लाहौर के इस तख्त हजारे को भी रांझा, हीर के भीतर और हीर रांझे के भीतर मौजूद पाती हैं, तो बात खत्म हो गयी। सफर का अन्त आ गया। अब कौन 'काबे जाकर हज करने की फिक्र करे?' और जो काबे में हज करके लौटते दिखाई देते हैं, उन पर तो सौ लानतें बरसती हैं क्योंकि वे 'टके लेकर हज बेच' अपने अल्लाह का भी सौदा किया करते हैं।

बुल्ले शाह और उनके रांझे या हीर के लिए सब तरह का कर्मकांड और सारी साधनाएँ बहाना भर हैं। न इनके होने से कोई फर्क पड़ता है और न, न होने से। उन्हें तो बस 'सत्य' से मतलब है। परन्तु सत्य को निरा विद्रोह या विस्फोट है— उसे कोई कैसे धारण कर सकता है? 'सच कहाँ ताँ भाँबड़ मचदा ए'। सत्य मुँह से निकला नहीं कि भभकती आग-सी लग जाती है सब तरफ। और इसलिए मजहब, उसकी साधनाएँ और कर्मकांड कैसे सत्य के साथ खड़े रहने की हिम्मत दिखा सकते हैं?

'सच शरआ करे बरबादी ए'

सत्य की रोशनी में शरीअत या कर्मकांड बर्बाद हो जाता है।

मजहब के पहरेदार चिल्लाते हैं—काफिर! परन्तु बुल्ले के पास इसका भी तोड़ है—एक सुरक्षा कवच।

'लोग काफर आखदे, तू आहो आहो आख'

लोग काफिर कहते हैं तो कहने दो। उलटकर स्वीकार कर लो—हाँ, यही सच है। और स्वीकार कर लेने से बात न बने तो 'चुप' हो जाने के ब्रह्मास्त्र का इस्तेमाल करो। केवल महाबुद्धिमान या निपट मूर्ख ही ठीक से चुप हो सकने की स्थिति को साध पाते हैं। बुल्ले शाह के पास यह जो 'मौन' है, वह कोई रहस्यवादी भावबोध नहीं है। वह एक विवेकपूर्ण व्यावहारिकता है। कृष्ण के रणछोड़ वाले रूप जैसी समझ है, जिसे हम न पलायन कह सकते हैं, न जुझारूपन; हालाँकि वह इन दोनों अतियों को स्पर्श करने वाला व्यवहार है। इसीलिए बुल्ले का रांझा न कर्मक्षेत्र के भीतर दिखाई देता है और न बाहर। परन्तु वह सत्यसिद्ध अवस्था में मालूम पड़ता है, एक ऐसी अवस्था में, जिसे बुल्ले शाह कहता है— 'ना एह जागण, ना एह सौण।' न यह जागना है और न सोना। जागते हुए कर्मक्षेत्र के लोगों के लिए यह दीवानगी है, अवचेतन में लिपटे हुए घूमना है और नींद में गाफिल होकर उतर जाने वालों के लिए यह अवस्था ऐसी है जैसे किसी ने अपनी नींद गँवा दी हो। सोने वालों को रांझा जागता-सा मालूम पड़ता है और जागते हुओं को सोया-सा। और ऐसा करता हुआ जब वह हीर को पाने के लिए मारा-मारा फिरता है, तो भी दरअसल वह हीर को न पाने निकला हुआ लगता है, न खो देने के लिए। वह न विरह को छोड़ता है, न मिलन को पकड़ता है। मालूम होता है जैसे वह हर तरह

के ग्रहण-त्याग से ऊपर उठ गया है। इसीलिए वह बड़ी हिम्मत के साथ उदघोषणा करता है–

'हिजर वसल हम दोनों ही छोड़े'

बुल्ले शाह और उसके रांझे की अद्वितीयता और मौलिकता को समझने के लिए इस सूत्र को पकड़ना-खोलना जरूरी है। हीर रांझे के लिए पागल है, रांझा हीर के लिए दीवाना है। परंतु दोनों को न हिजर चाहिए और न वसल। फिर आखिर वे खोज क्या रहे हैं? यहाँ बुल्ले शाह की 'अन-लक-हक' जैसी क्रान्तिकारी सत्यनिष्ठा और उसकी अभिव्यक्ति हमारे काम आती है। वे मनसूर की तरह, लोगों के पागलपन और सत्ता के कोप का शिकार होकर सूली पर नहीं चढ़ना चाहते। इस घटना के लिए उन्होंने अपने अल्लाह से कितनी ही बार शिकवा-शिकायत और झगड़ा तक किया है कि क्यों सब कहीं मौजूद होते हुए भी उसने मनसूर जैसे प्यारे शख्स और 'एकमात्र दोस्त हो सकने लायक' व्यक्ति को सूली पर चढ़ जाने दिया? फिर भी सच को लाख पर्दों के पीछे छुपाओ, वह जाहिर हो के रहता है। इसलिए बुल्ले शाह भी साफ लफ्जों में कह डालता है–

'आखिर अव्वल आप नूँ जानाँ'

अन्तत: स्व या आत्म ही श्रेष्ठ या सर्वोत्तम है। वही जानने लायक बात है बस। कोई अल्ला नहीं, कोई हरि, कोई निरंजन नहीं। बस खुद में टिक जाना काफी है। अल्लाह तो इस खुदी की ओट में भीतर ही कहीं एक 'चोर' की तरह रहता है और हमें चोरी से चुरा कर निकल जाता है। परन्तु अल्लाह से ऐसी लुका-छिपी तभी मुमकिन है जब हम पहले 'खुद में' तो हों और खुद में होते ही पता चलता है कि 'हम' में और 'उस' में कोई फर्क नहीं है–

'इक्को घर विच वसदियां रसदियां, नहीं हुन्दा विच परदा।'

दरअसल 'हम' और 'वह' एक ही घर में बसते-रसते हैं। और एक ही घर में रहने वालों के दरम्यान कोई पर्दा नहीं होता और इस 'एक ही घर' में जो रहता है, वही 'घर घर का मालिक' है और वही सभी की अनेकानेक शक्लों में प्रकट होकर जाने कैसा खेल खेलता है? वही रांझा है, वही हीर है, वही मनसूर और वही बुल्ले शाह भी है–

किते बुल्ला नाँ घराया ए, विच परदा रखिया खाकी दा।

वह अल्लाह, निरंजन या सत्य ही 'कहीं बुल्ला नाम रखकर जमीन पर घूम रहा है, परन्तु उसने अपने और बुल्ले के बीच खाक की देह का पर्दा रखा हुआ है।' यही है लुका-छिपी का खेल। उसकी तरफ से पर्दादारी है और हमारी तरफ से पर्दा गिरा देने की जिद्द–

'उसका मुख इक जोत है, घूँघट है संसार
घूँघट में वह छिप गया, मुख पर पर्दा डाल।'

इस तरह 'वह' छिप जाता है, मगर हम 'खुद' में होकर वही हो जाते हैं। एक ही मजहब है, एक ही सच– और वह है खुद में लौटना, खुद में होना; जिसके लिए बस जरा ही 'उखड़ने' और 'फिर से जमने' की कला सीखने की जरूरत है। इसे बुल्ला अपने गुरु इनायत शाह की मालीगिरी की मार्फत सीखता है–'एत्थों पुट्टणा, ओत्थे लाणा'। गुरु ने कहा– बुल्ले! रब को क्या पाना, बस यहाँ से उखाड़ना और वहाँ लग जाना है। ये एक सूफी के वचन हैं और यही तो भारतीय योग-दर्शन का सार है। पतंजलि कहते है –चित्त को उसकी वृत्तियों से अलहदा करना है और वहीं मौजूद चित्त की चेतना में डुबकी लगानी है। पनीरी की तरह भीड़-भाड़ वाली जमीन से उखड़कर अकेले होकर अपनी जमीन में जा लगना है। परन्तु अगर यह प्रक्रिया 'खुद' को पा लेने की है, तो इसमें 'दूसरे' की मौजूदगी और उसके साथ एकरूपता क्यों इतनी जरूरी है? क्यों 'मैं' का 'तू' हो जाना सत्य को पाने की अनिवार्य शर्त है? क्यों हीर का रांझा होना और रांझे का हीर बनकर ही आत्मस्थ होना मुमकिन है?

बुल्ले शाह और उसके रांझे की अद्वितीयता और मौलिकता को समझने के लिए इस सूत्र को पकड़ना-खोलना जरूरी है। हीर रांझे के लिए पागल है, रांझा हीर के लिए दीवाना है। परंतु दोनों को न हिजर चाहिए और न वसल। फिर आखिर वे खोज क्या रहे हैं? यहाँ बुल्ले शाह की 'अन-लक-हक' जैसी क्रान्तिकारी सत्यनिष्ठा और उसकी अभिव्यक्ति हमारे काम आती है। वे मनसूर की तरह, लोगों के पागलपन और सत्ता के कोप का शिकार होकर सूली पर नहीं चढ़ना चाहते।

हमारे 'खुद' हो जाने की परम विरल घटना के यहाँ दो चरण सामने आते हैं। पहला तो वही है–प्रेम के समन्दर में डुबकी लगाकर खुद की तरह खो जाना और समन्दर हो जाना। हीर की इस अन्त:रूपान्तर की दीवानगी देखने लायक है–

रांझा रांझा करदी नी मैं आपे रांझन होई
सद्दो नी मैनूँ धीदो रांझा, हीर न आखे कोई।

एक अर्थ में हीर का रांझा हो जाना और रांझे का योगी हो जाना– ये दोनों स्वाँग हैं। बुल्ला इस बात पर मुग्ध है। 'वाह सांगी सांग रचाया' कहकर वह इसे रूपान्तर के पहले चरण की तरह स्वीकृति देता है। परन्तु इससे हीर या रांझा कैसे सत्य को

पाते हैं ? आत्मोपलब्ध कैसे होते हैं ? कैसे खुद में खुद की तरह होने की स्थिति तक पहुँचते हैं ?– बुल्ला इस भेदभरी बात की ओर इशारा करता है–

हीर तू मुड़ रांझा होई, एह गल विरला जाने कोई।

बिरला ही इस भेद को समझता है कि हीर, रांझा नहीं हो गयी है, अपितु 'फिर से' रांझा हुई है। इस फिर से रांझे होने के मतलब को पकड़ना जरूरी है। हम सब जो हैं, वह नहीं हैं; इसलिए हम वह होने की कोशिश में रहते हैं, जो हम हैं। यह रांझे की लीला है कि वह दुनिया में हीर होकर खुद को पाने के लिए तरसता है। वह कोई और है जो 'किते रांझा है किते लैला है।' इसलिए वह न रांझा है और न लैला, परन्तु वह खुद को कहीं रांझा होकर पाता है तो कहीं हीर होकर; और वह भी एक-दूसरे की मार्फत। यह उस सत्य तक पहुँचने की प्रक्रिया है जो निर्बन्ध है–देहों के भेद और उनकी कैद से आजाद। बुल्ला इसी अर्थ में घोषणा करता है–'मैं बेकैद, मैं बेकैद'। यह निर्बन्धता अद्‌भुत है। वह फिर किसी मर्यादा, उसूल या विधि-विधान को मानने से इनकार कर सकती है–

विच मसीत नमाज गुजारे
बुतखाने जा वड़दा, दिलबर की करदा।

यह रांझा दिलबर क्या करता है ? वह मस्जिद में नमाज पढ़ता-पढ़ता, मन्दिर के बुत की परस्ती के लिए निकल जाता है। यह वह रांझा है जो असल में एक हिन्दुस्तानी जैसा व्यवहार कर रहा है। जिसे 'ईश्वर-अल्लाह' दोनों 'तेरे नाम' लगते हैं। बुल्ले शाह ऐसे ही हिन्दुस्तानियों की सल्तनत का शहंशाह है। आइए, अब लगे हाथ इस शहंशाह की 'जात' भी पहचान लें।

सूफी, इस्लाम की जाति-विहीन चेतना का अभूतपूर्व मानवीय संवेदनागत विस्तार करते हैं। परन्तु यहाँ के जाति-विभाजित समाज में पले-बढ़े लोगों के बीच में अगर कुछ 'सूफी मुसलमान' हो भी जाते हैं, तब भी उसकी जड़ों में पड़े अन्त:विभाजन से उबरना पूरी तरह मुमकिन नहीं होता। पर सैयदों की ऊँची जाति से ताल्लुक रखने वाला बुल्ला, एक शूद्र माली का काम करने वाले अराईं इनायत शाह को गुरु बनाता है। फिर वहीं से उसकी चेतना का गहरा मानवीय अर्थ और समानतामूलक समाज का एक नक्शा गढ़ा जाने लगता है। सूफियों की भारत के नाथ-योगियों से निकटता दरअसल निम्न जाति-समुदायों के बीच पनपने-फैलने वाले दर्शन की समाज का रूपान्तर करने वाली चेतना से जुड़ना है। रांझा इसीलिए नाथयोगी होने में ही किसी तरह की सामाजिक मुक्ति की जगह पाता है। परन्तु उच्चवर्गीय कैदखाने में पड़ी हीर उसके लिए अलभ्य है। रांझा तो दीवाना होकर भटक भर सकता है, रूपान्तर का काम हीर को करना पड़ता है–खुद को रांझे के रूप में प्रस्तुत करके। यह वर्गों-जातियों की सम्भ्रान्त चेतना का वर्गविहीन-जातिविहीन होकर मानवीय हो सकने का एक सांस्कृतिक तरीका है। अब उस भेद को समझें। हीर जब कहती है कि वह फिर से रांझा हो गयी है, तो दरअसल वह यह कह रही है कि हमारे सांस्कृतिक यथार्थ की असल जमीन रांझे की है। वह जो हाशिये पर डाल दिया गया समाज है, वही यहाँ के सत्य का, यहाँ की सारी सृजन-ऊर्जा का असल स्रोत है।

अब इस सांस्कृतिक कूट (कोड) के अर्थ समझते हैं कि सत्य तो भीतर छिपा है। हम जो 'खुद' हैं, उसे हम अपने भीतर छिप गये या खो गये आयाम की तरह ही देख पाते हैं। यह है हमारा हाशियों पर डाल दिया गया वजूद, जो असल में हमारी 'आत्मा' है। वही हमारी असली जाति है। बुल्ले शाह के इस वाक्य को अब इन अर्थों के आईने के आगे रखकर पढ़ें, वहाँ हमें असल भारत के नयन-नक्श उघड़ते मिलेंगे।

जो कोई अन्दर बोले-चाले, जात आसाँ दी सोई।

वह जो 'अन्दर' दबा-छिपा पड़ा रह गया है और दरअसल जो वहाँ पड़ा 'बोलता-चालता' है, वही हमारी 'जात' है।

उपनिषद्‌कार की तरह का वचन है यह– 'वह जो भीतर देखता है, सुनता है, सूँघता है, बोलता है, सोता और जागता है'– वही हम हैं। उपनिषद् काल से बुल्ले के काल तक इसमें फर्क इतना ही पड़ा है कि अब हमें कहना पड़ता है– हम वही हैं यानी हमारी जात वही है।

और इस भूल में पड़ने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है कि बुल्ले की 'जात' का असल अर्थ जातिमूलक नहीं है। बुल्ले की इंकलाबी चेतना में ऐसे भ्रम को उड़ा देने के लिए यह कहने के लिए अभूतपूर्व हिम्मत बची है–

'मैं चूहड़तड़ीं आँ अपने साहिब की'

मैं अपने रांझे साहिब की जमादारिन हूँ, 'चूहड़ी' हूँ, जो भले ही ऐसा लफ्ज है, जो बहुतों को एक गाली जैसा लगता है। पर मैं वही हूँ, वही हूँ।

बुल्ले शाह के 'रांझे यार' के रूप में हिन्दुस्तान, आलमी तहज़ीब की चेतना वाले एक ऐसे व्यक्तित्व की शक्ल में जिस्मो-जाँ पाता है, जो इतना व्यापक है कि मुल्कों की सरहदों और मजहबों के 'इज्जड़ों' (भेड़ों-बकरियों के समूहों) के भीतर अट-खप नहीं पाता। अपने कादिरी खलीफाओं को पीछे 'माजी के बगदाद' में छोड़कर हिन्दुस्तान आ गये बुल्ले शाह को यहाँ के रांझे के रूप में गोया एक नया जन्म मिला है और वह इस बात का गवाह बनता है कि हिन्दुस्तान में तो जैसे कुछ इस तरह के 'उलटे जमाने आये' हैं कि 'इराकियाँ नूँ चाबक पैंदे' (इराकी

घोड़ों को चाबुक पड़ते) दिखाई देते हैं। जिस कादिरी का 'पीर बगदाद में हो और मुरशद तख्त लाहौर में'— उसका रांझे के साथ खड़े होकर देखा गया सच संकीर्ण राष्ट्रवाद के लिए कोई जगह, कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता।

ठीक से देखा जाए तो बुल्ले शाह और उसका रांझा, राष्ट्रवाद, साम्प्रदायिकता और सामन्तीय जाति–विभेदकता— इन तीनों की पतनशील दुरभिसंधि के खिलाफ खड़े हैं और इसका मानवीय प्रेममूलक विकल्प तलाशने का रास्ता पकड़ते हैं। बेशक इस विकल्प का ठोस–मूर्त रूप हमारे सामने नहीं उभरता, पर संकेतों–सूत्रों में उसकी ओर स्थिर–निश्चित कदम उठाने की बावत भी कोई शक दिखाई नहीं देता—

'न हम हिन्दू न तुर्क जरूरी'

जो मनुष्य अपने पीछे इराक, तुर्कमेनिस्तान और अफगानिस्तान से जुड़े अपने सारे अतीत और उसके इतिहास को छोड़कर वहाँ हिन्दुस्तान में आ बसा हो, उसके लिए फिर 'हिन्दू' होने का भी क्या अर्थ बचा रह जाता है? सामन्तीय दौर में राष्ट्र और मजहब एक–दूसरे से अविच्छेद्य रूप में बँधे रहते हैं और इस अविच्छेद्यता को मजबूत करने व ठोस बनाने का काम करता है— सामन्तीय नस्लवाद, रक्त–वर्ण वाली चेतना या जातिवाद। मध्य एशिया में रक्त–वर्ण वाली कबीलाई जमीन ज्यादा नुमाया दिखाई देती है तो हिन्दुस्तान में सामन्तशाही के ज्यादा विकसित हो जाने से उसका श्रम–विभाजन वाला जातिवादी रूप अधिक प्रबल हो उठता है। बुल्ले शाह देख पाते हैं कि ये दोनों ही सामाजिक ऊँच–नीच या असमानता की मुख्य वजहें हैं और इस असमान समाज–व्यवस्था से जो राजनैतिक सत्ता निकलती है, वह 'ऊँचाई पर मौजूद वर्ग' के हितों की हिफाजत के लिए 'नीचे वालों' का दमन करती है; हालाँकि इस व्यवस्था का कोई कुदरती या वास्तविक आधार या प्रयोजन नहीं है। इसलिए वे अपनी फिक्र का बयान करते हैं कि 'ऐवें कैदी दे सिर शाही ए'। कैदियों के सिरों पर बैठी यह शाही जमात 'ऐसे ही' वहाँ आकर बैठ गयी है; जबकि कुदरती तौर पर मनुष्य 'बेकैद' है। इसीलिए इस व्यवस्था का जो आधार है, यानी जो जाति या वर्ण–रक्तगत विभाजन है, वह भी कुदरती रूप में 'पैदा' नहीं हुआ है।

'बुल्ले शाह दी जात पुच्छनैं, पैदा करे नपैद'

जो कोई बुल्ले शाह की जाति के बारे में पूछता है, वह पैदा न होने वाली वस्तु को पैदा करता है।

यों, इस पंक्ति को एक और अर्थ में पढ़ना भी मुमकिन है कि जो बुल्ले शाह कभी पैदा न हो सकने वाले सत्य को पैदा कर रहा है, उससे आप उसकी जाति की बाबत पूछते हो? (तो क्या यह हास्यास्पद नहीं है?)

परन्तु यहाँ जो बात समझने लायक है, वह यह है कि अकेले–अकेले तौर पर, जाति–मजहब–कौमीयत की आलोचना का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि यह एक ही व्यवस्था के तीन रूपों या पहलुओं के रूबरू होने का मामला है। ये तीनों एक–दूसरे को जन्म देने वाली चीजें हैं और जब ये तीनों मनुष्य की चेतना के भीतर, अपने पतनशील रूप में दिखाई देने लगती हैं, तो ही मनुष्य इन तीनों को एक ओर धरकर उस 'सत्य' की ओर आता है, जो मानवजाति और मनुष्य के सामूहिक और निजी रूपों का भविष्य है; जहाँ सामन्तीय व्यवस्था के दुष्चक्र से निजात पाते हुए हम समतामूलक, मानवीय व्यवहार के रूप में अपनी मुक्ति पा सकते हैं। शायद बुल्ले शाह हमारे समय के लोकतन्त्र या समाजवाद से भी हमें आगे ले चलने का सन्देश देते हैं, क्योंकि मौजूदा व्यवस्थाएँ भी हमें किसी–न–किसी रूप में सामन्तीय तत्त्वों व प्रवृत्तियों से हाथ मिलाये हुए रूप में दिखाई देती हैं और उस समझौते की वजह से विकल्प होने की बजाय खुद पतनशील होती जाती हैं। बुल्ले शाह की सुनें तो सच के लिए मनुष्य को 'भीतर' उतरना होगा—अपनी दमित या हाशिये पर पटक दी गयी चेतना में, अपने रांझेपन के साथ और उसकी दीवानगी से सराबोर होकर।

मस्जिद कोलों जीकंड डरिया/भज्ज भज्ज ठाकुरद्वारे वड़िया
घर विच पाया साहिब यार।

यह है 'रांझापन', जो अपनी जिद या धड़कन में मस्जिद के खौफ से भरा है, जिससे बचने के लिए वह ठाकुरद्वारों में भाग–भागकर जा घुसता है; परन्तु उसका साहिब यार उसके अपने घर में बैठा उसका इन्तजार कर रहा होता है। मध्य एशिया से हिन्दुस्तान तक के भटकाव के बाद, अब अपने वास्तविक घर में लौटने की बारी आयी है। यह घटना भी तो इसी हिन्दुस्तान में घट सकती है, क्योंकि यहाँ सब ओर से भटककर आए लोगों का, आलमी तौर पर जगह–जगह से विस्थापित हुए लोगों का, एक तहज़ीब के आयाम में जमावड़ा लग सका है। बड़े विरोध और उखाड़–पछाड़ के बावजूद, यहाँ अभी संवाद की सम्भावनाएँ बची रह सकी हैं। और इसीलिए 'साहिब' को गद्दी से या ऊँची कुर्सियों से उतरकर 'रांझे यार' की शक्ल में, हमारे घरों में बैठकर हमारा इन्तजार करने की जरूरत महसूस हो सकती है।

सत्ता के ऐसे महान विकेन्द्रीकरण से कम में हमारा यह यार रांझा और यह फकीर बुल्ले शाह मानने वाले नहीं हैं।

सम्पर्क–9, चीमा नगर एक्सटेंशन
मीठापुर रोड, जालंधर–144014
मो. 09814658098

ताकि बच सके बचपन

प्रतिभा

कभी नाजुक हाथों में खिलौना लिये, दादी–नानी की कहानियाँ सुनता और माँ की लोरी से मीठे सपनों का संसार सजाता बचपन आज किताबों तले दबा हुआ एवं गलाकाट प्रतियोगिता में घुटन भरी आवाज लिए बेचैन है। बचपन सदैव ही एक कोमल, नाजुक, पवित्र, सुहृदय, निश्चल भावों को लिए हुए एक अद्‌भुत अनुभूति है। यदि हमारे समाज में पारिवारिक–संस्कृति, सामाजिक–आचरण, मानवता, संयम, त्याग, धैर्य, समर्पण आदि भावों को पुरानी बातें मानकर ठुकराया जाने लगे और ऐसी परिस्थिति में पलने–बढ़ने वाले बचपन यदि अपने मौलिक स्वरूप से विमुख होते जा रहे हों तो उनका क्या दोष? बचपन एक गीली मिट्टी के समान वह अनढला स्वरूप है, जिसे किसी भी साँचे में ढालकर अपने अनुरूप बनाया जा सकता है। कम उम्र में बच्चों द्वारा किये जाने वाले अपराध, उनकी बढ़ती हिंसक मनोवृत्ति या थोड़ी–सी बात पर हिंसा का सहारा लेना, घर से पलायन इत्यादि यह दर्शाता है कि हमने भौतिक चीजों को विकास के नाम पर बढ़ावा दिया है। प्रगति एवं विकास किसी समाज का वह मापदंड होता है जिसमें ऊपर की ओर बढ़ने की सकारात्मक प्रवृत्ति दिखाई दे, किन्तु यदि हम समृद्धि के नाम पर अच्छे मकान, अच्छी कारें, अच्छी सड़कें, और अन्य सभी भौतिक साधनों को पाने की होड़ में अपने समाज के बचपन को प्रारम्भ होने से पहले ही प्रौढ़ बना दें तथा उनके हाथों में ऐसी विध्वंसक चीजें थमा दें, जिसके चारों ओर प्रदूषित वातावरण तैयार हो जाए तो, ऐसा विकास विकास न होकर पिछड़े हुए मानवीय परिवेश के रूप में परिलक्षित होगा। आज बच्चों और किशोरों के बीच पनपती हिंसा चिन्ता का विषय है। कई शोध अध्ययनों से ये निष्कर्ष निकाला गया है कि बच्चों में पनपते हिंसक व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं, जिनमें बच्चे के साथ कोई हिंसा की वारदात, घर या समुदाय में हिंसा, आनुवांशिक कारण, मीडिया द्वारा परोसी जाने वाली हिंसा, दवाओं या मादक द्रव्यों का प्रयोग, तनाव पूर्ण पारिवारिक जीवन, या स्वभाववश कारण शामिल हैं। अगर हम प्राचीन समय से आधुनिक समय की तुलना करें तो ये समझ सकते हैं कि जो बचपन सड़क और गली में खेलकर गुजरा करता था आज की चारदीवारी में घुटन भरा माहौल जीने को मजबूर है।

आज बदलाव के इस युग में सब कुछ बहुत तेजी से बदल रहा है। लोगों की अनुभूतियाँ, आचार–विचार, इच्छाएँ, स्वरूप, चिन्तन सब कुछ तेजी से बदल रहे हैं। विकास की गति पूर्व की तुलना में कई गुना अधिक हो गयी है, किन्तु जैसे–जैसे इस विकास के बदलाव का संवेग तेज हो रहा है, नयी–नयी समस्याएँ, मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ, मानसिक विषाद मनोविलासिता, नकारात्मक संवेग, प्रतियोगिता एवं मानसिक विकृति इत्यादि जन्म लेते जा रहे हैं। जहाँ पर किसी बच्चे का संरचनात्मक सामाजिक समर्थन उसकी गुणवत्ता के कारण या किसी अन्य कारण से कम होने लगता हो तो ऐसी विकृतियाँ उभरना शुरू हो जाती हैं।

बच्चों पर सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। जिस वातावरण में हिंसा और शोषण की प्रबलता होती है उस वातावरण में जन्मे व पले–बढ़े बच्चों का व्यक्तित्व शोषण और हिंसा करने वाला हो जाता है।

बच्चों पर सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण का पूरा–पूरा प्रभाव पड़ता है। जिस

वातावरण में हिंसा और शोषण की प्रबलता होती है, उस वातावरण में जन्मे व पले-बढ़े बच्चों का व्यक्तित्व शोषण और हिंसा करने वाला हो जाता है।

जो व्यवहार विभिन्न प्रकार के मानसिक संघर्षों से गुजरते हुए एक प्रौढ़ या वयस्क का हुआ करता था, आज बालकों में दिखाई दे रहा है। हमारे दैनिक व्यवहार में कुछ ऐसी कुप्रवृत्तियाँ स्वयं अभिभावकों द्वारा डाली जा रही हैं जिन्हें 'मैनर्स' और 'एटीकेट्स' का जामा पहनाकर कोमल मन पर आघात किये जा रहे हैं, जिनका प्रभाव आगे आने वाले समय में मानव-सम्बन्धों के बिखराव के रूप में दिखाई देगा।

वर्तमान में माता-पिता की अपेक्षाएँ अत्यधिक हैं। वे बच्चों में अनुशासन, परिश्रम, सहिष्णुता, जिम्मेदारी तथा स्वस्थ एवं आदर्श व्यक्तित्व के लक्षणों का स्वप्न सजाते हैं उसकी क्षमताओं के अधिकतम विकास हेतु आधुनिकतम सुविधाएँ जुटाते नजर आते हैं, जिसका सीधा प्रभाव बच्चों में तनाव के रूप में परिलक्षित होता है। मनोदर्शन यह बताता है कि व्यक्ति घर, परिवार, समय, संस्कृति और अपने अनुभवों द्वारा स्थापित बाधाओं और प्रतिबन्धों के कारण पूर्ण रूप से कार्य नहीं कर पाता एवं व्यक्ति की अन्तर्निहित क्षमताओं का अधिकतम विकास नहीं हो पाता। अत: इस प्रकार के बच्चों में सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करके उनमें अपनी क्षमताओं और सीमाओं को पहचानने हेतु माता-पिता द्वारा सुरक्षा एवं संरक्षण की पर्याप्त आवश्यकता होती है।

विभिन्न सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बच्चों से भिन्न-भिन्न अपेक्षाएँ हो सकती हैं, किन्तु ये अपेक्षाएँ यथार्थवादी होनी चाहिए न कि अतिवादी। यहाँ पर माता-पिता-संरक्षकों, या किसी बाल गृह अथवा रिमांड होम विशेष गृहों के संरक्षकों को यह जानना आवश्यक है कि बच्चे को ऐसा परिवेश प्रदान करें जिनमें उन पर अपेक्षाओं का बोझ कम हो और मानसिक रूप से स्वच्छ निर्णय लेने की क्षमता का विकास हो। इन बातों पर ही बालक का बालपन सुरक्षित रह सकता है। इसके लिए स्वयं सेवी संगठन, विद्यालय, मनोचिकित्सक, मनोविश्लेषक, माता-पिता, शिक्षक, एक महती भूमिका निभा सकते हैं। देखा गया है कि धर्म की आड़ में शोषण व अनुगामिता को बढ़ावा मिलता है जिसका सीधा शिकार महिलाएँ होती हैं, जो अपने अन्दर जन्मने वाली आत्मकुंठा, तनाव एवं नकारात्मक सोच अपनी अगली सन्तति को प्रवाहित करती हैं। अत: आज आत्ममन्थन का समय है कि जब तक हम मानसिक रूप से स्वस्थ या सुदृढ़ होकर अच्छे विचारों को अपने अन्दर जन्म नहीं देंगे, तब तक इस विषय पर तर्क करना निरर्थक है। हमारी संस्कृति में हमारे मूल्यों, अभिरुचियों एवं व्यवहारों का समावेश होता है। हमारे समाज के सभी सदस्यों को ऐसे ही मूल्य, व्यवहार एवं अभिरुचियों को जीवन में धारण करना होगा ताकि आने वाली पीढ़ी अन्य संस्कृतियों के प्रभाव में आकर उनकी अच्छी चीजें तो ग्रहण करे, लेकिन अपनी मूल भावना को न छोड़े। बच्चे किसी भी देश का भविष्य होते हैं। अत: उनके विकास मानसिक स्वास्थ्य, व्यवहार आदि को सही दिशा देना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है। हाल-फिलहाल की घटनाएँ ये दर्शाती हैं कि अपराधों में किशोरों की संख्या बढ़ती जा रही है; हालाँकि किशोर न्याय बालकों का संरक्षण अधिनियम वर्ष 2000 में पारित हुआ, जिसका मुख्य उद्देश्य है, अपराधी प्रकृति के बालकों को न्यायिक प्रक्रिया अपनाकर उनमें सुधार करना।

आपराधिक प्रवृत्तियों के जन्म लेने के पीछे कई महत्त्वपूर्ण कारण हैं, जैसे— गरीबी, बेकारी, गलत परवरिश, गलत संगति या आनुवांशिक प्रभाव। इसके अतिरिक्त कई अमीर घरों के बच्चे भी आपराधिक प्रवृत्ति में संलिप्त पाये जाते हैं। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपराधों में वे बच्चे या किशोर ही सम्मिलित हैं, जिन पर उनके माता-पिता या संरक्षकों का नियन्त्रण नहीं है। माँ-बाप के पास बच्चों को देने के लिए पर्याप्त समय नहीं है, और न ही उनके पास अच्छे और बुरे का भेद बताने वाली शिक्षा है। जहाँ एक ओर एक बच्चे को प्यार सहानभूति और पुचकार की आवश्यकता होती है और वहीं दूसरी ओर उचित नियन्त्रण की भी जरूरत होती है। आँकड़े दर्शाते हैं कि हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ उन्हीं बालकों और किशोरों में अधिक तेजी से पनपती हैं जिनमें नियन्त्रण या आत्मनियन्त्रण का अभाव है। यह समस्या देश की ही नहीं बल्कि समस्त विश्व की समस्या है। आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देने वाला अजमल कसाब तथा नयी दिल्ली की 16 दिसम्बर, 2012 की वीभत्स घटना में संलिप्त किशोर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। किशोरों में एक प्रौढ़ व्यक्ति की अपेक्षा अधिक ऊर्जा और कुछ कर गुजरने की तीव्र इच्छा होती है। इसी समय उनकी इस ऊर्जा को सही दिशा देने की आवश्यकता होती है।

शोध में यह सामने आया है कि संचार माध्यमों में प्रस्तुत हिंसा के कारण समाज में हिंसा और आक्रामकता बढ़ी है, खास तौर पर किशोर और बच्चों में। जिस अनुपात में समाज में वास्तव में अपराध होते हैं या हिंसक वारदातें होती हैं, उससे कहीं अधिक अनुपात में संचार माध्यमों के जरिये हिंसा का होना दिखाया जाता है। इससे कोमल मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि सम्पूर्ण समाज में अपराधियों का ही बोलबाला है। इस उम्र के कुछ बच्चे अपराधियों को रोल मॉडल बना लेते हैं। उसी स्टाइल में बात

करना, उसी स्टाइल में चलना, उसी स्टाइल में बाल रखना अपनी शान समझते हैं। अत: संचार माध्यमों के समाज के विकास में योगदान पर भी सवाल उठाया जाना चाहिए कि आखिर उनके द्वारा इन दिशा में कितना योगदान दिया जा रहा है। उचित अनुपात को उनके द्वारा बदल कर किन अभिरुचियों को कम महत्त्व दिया गया। किनको कितना उपेक्षित कर दिया गया और किन्हें सबसे ज्यादा अनुपात में रखा गया। इसके अतिरिक्त हमेशा हिंसा द्वारा ही बुराई पर अच्छाई की विजय दिखायी जाती है, जिसमें हिंसा को जायज ठहराया जाता है। कभी-कभी किशोर इस तरह की नकल करते हुए दिखाई देते हैं। हमारी अन्य संस्थाएँ जैसे- परिवार, स्कूल, कॉलेज, मन्दिर इत्यादि जो अहम भूमिका निभाते थे, उसको हमारे संचार माध्यमों ने फीका कर दिया है। सांस्कृतिक प्रदूषण बढ़ाते समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, विज्ञापन, फिल्में, नाटकों से किशोरों को दूर रखना या उन्हें देखने पर नियन्त्रण लगाना आसान बात नहीं है बल्कि इससे उल्टे और अधिक खराब परिणाम निकल सकते हैं, क्योंकि जो चीज आसानी से नहीं मिलेगी तो अल्प उम्र के किशोर इसे चोरी-छिपे प्राप्त करने की कोशिश करेंगे। एक अध्ययन में यह बात उजागर हुई। कुछ आदिवासी किशोरों को टेलीविजन दिखाया गया। उन्होंने पहले कभी टेलीविजन नहीं देखा था। उन्हें हिंसात्मक दृश्य दिखाये गये, परिणामस्वरूप यह पुष्टि हुई कि हिंसा में वृद्धि हुई है। अगर इतिहास टटोलें तो यह पता चलेगा कि बीसवीं सदी मानव इतिहास में सबसे ज्यादा हिंसक रही है और यह आँकड़े कहीं बढ़े हैं तो कहीं घटे हैं। एक अध्ययन के मुताबिक ब्राजील में इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में पच्चीस प्रतिशत से ज्यादा किशोरों की मौत दुर्घटना और आत्महत्या जैसे हिंसात्मक कृत्यों की वजह से हुई है जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुई मौतों से लगभग चार गुना ज्यादा है।

जब तक हम मानसिक रूप से स्वस्थ या सुदृढ़ होकर अच्छे विचारों को अपने अन्दर जन्म नहीं देंगे तब तक इस विषय पर तर्क करना निरर्थक है। हमारी संस्कृति में हमारे मूल्यों, अभिरुचियों एवं व्यवहारों का समावेश होता है। हमारे समाज के सभी सदस्यों को ऐसे ही मूल्य, व्यवहार एवं अभिरुचियों को जीवन में धारण करना होगा ताकि आने वाली पीढ़ी अन्य संस्कृतियों के प्रभाव में आकर उनकी अच्छी चीजें तो ग्रहण करे लेकिन अपनी मूल भावना को न छोड़े।

मारधाड़ और हिंसा से भरपूर दृश्यों वाले टीवी प्रोग्राम या वीडियो गेम्स किशोर बच्चों को हिंसा के लिए न केवल उकसा रहे हैं वरन् संवेदनहीन भी बना रहे हैं। वैज्ञानिक रिसर्च है कि दिमाग का वो हिस्सा जो भावनाओं को नियन्त्रित करता है और बाहरी घटनाओं पर प्रतिक्रिया जताता है, जिसे वयस्क होने पर विकसित होना चाहिए, वह बचपन के दौर में विकसित हो रहा है।

कम उम्र के बच्चों में अधिक प्रतिक्रिया व क्रूरता जन्म ले रही है जो कि उन्हें संवेदनहीनता की ओर ले जा रही है। समाज में होने वाली क्रूरतम घटनाएँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। परिवार-समाज से लेकर देश में होने वाली बड़ी-बड़ी घटनाओं को ऐसे अल्पवयस्क ही अंजाम दे रहे हैं, और वह दिन दूर नहीं कि बड़े-बड़े अपराधी गिरोह ऐसे बच्चों का सहारा लेकर समाज में अराजकता फैलाने का काम करने लगेंगे।

विशेषज्ञ मानने लगे हैं कि मानव इतिहास में यह सर्वाधिक हिंसा का युग है। अमेरिका के कई राज्यों के स्कूलों में रिवाल्वर रखने वाले किशोरों की संख्या बढ़ी है। ऐसा नहीं है कि केवल भारत के पिछड़े राज्यों में ही वीभत्स हिंसक घटनाएँ हुई हैं बल्कि विकसित देशों में भी ऐसी घटनाएँ होती हैं। आज हम आर्थिक असमानता की बात करते हैं तो ज़ेहन में आता है कि केवल भौतिक विकास करने से ही इस समस्या का हल नहीं निकल सकता, बल्कि हमें सामाजिक कटुता जैसे मूल कारण को भी ध्यान में रखना होगा।

अत: जब हम इस समस्या के निवारण की दिशा की ओर सोचते हैं तो यह जानना अति आवश्यक है कि किशोरों के विकासात्मक, संवेगात्मक, समायोजनात्मक, मनोगत व्यसन और अन्य अनेक समस्याओं के क्षेत्र में सहयोग की आवश्यकता होती है जो कि उन्हें अपने माता, पिता, संरक्षक, शिक्षक, सहयोगी व समाज सेवकों के सहयोग एवं परामर्श द्वारा मिल सकता है।

अब यह अनुभूति हो चुकी है कि हिंसा और संवेदनहीनता को रोकने हेतु गांधीजी की अहिंसा को अपनाने, इनकी शिक्षा को बढ़ावा देने के अतिरिक्त और कोई दूसरा चारा नहीं है। यही कारण है कि सम्पूर्ण अमेरिका के किशोरों में बढ़ती हिंसा के कारण न्यू-जर्सी की विधानसभा में गांधीजी की अहिंसा सम्बन्धी शिक्षा को पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में शामिल करवाने हेतु एक विधेयक प्रस्तावित किया गया है, जिसका उद्देश्य है बालकों में अहिंसा-भावना का प्रादुर्भाव करना। अत: आज फिर उन्हीं कहीं खोते जा रहे नैतिक मूल्यों की ओर लौटने की आवश्यकता है जिन्हें हम भूलने की भूल कर रहे हैं, ताकि बचपन की मौलिकता को बचाया जा सके।

सम्पर्क—सिविल जज, बिहार न्यायिक सेवा
मो. 07781074950

रवीन्द्र दास की कविताएँ

हम नैतिक मनुष्य हैं

हम जिसे जिस नज़र से देखते हैं
हम चाहते हैं
कि वह भी खुद को उसी नज़र से देखे
हम सोचते हैं
गोया सोच सकते हैं
हमारी सोच निर्णायक है
हम अपनी सोच का उपनिवेश चाहते हैं

वे, जो हमारा उपनिवेश हैं
वनस्पति की मानिंद बहुत जीवित हैं
हमारा आहार हैं
हम उन्हें चबाते हुए चाहते हैं कि वे
बिलकुल विनयशील बने रहें

हमारी नज़र में नैतिकता है, पवित्रता है
एक चिरंतन सत्य है...
और उन सबके पैने-नुकीले दाँत हैं
हम उन्हीं से उन्हें चबाते हैं

हमारी भिंची मुट्ठियाँ किस तरफ़ है
हमें नहीं पता
हम जानना भी नहीं चाहते
गोकि हम नैतिक मनुष्य हैं
जो बिस्तर पर अधमरे अपाहिज की तरह
अपनों पर शक करते हुए
हलकान हैं उन्हें कोस कोस कर

और हर बार
हम नहीं भूलते हैं कहना
हम भी इन्सान ही हैं उनकी तरह

उन्होंने सपना देखा

उन्होंने सपना देखा नए ज़माने का
जिसमें एक शुतुरमुर्ग था
सपने पूजा की शुतुरमुर्ग की
गोया कोई आस्तिक न था उनमें
लेकिन एक नासेह के बन्दे थे सभी
और ये स्वप्नजीवी हक़ीक़त से आँखें चुराना सीख सके

उन्होंने सपना देखा
और निकल पड़ते ऑटो पकड़ के मंज़िल की खोज में
नासेह ने बता दिया था
मंजिल का पता पहले ही
ये सपनों में भी सच्चाई की बातें नहीं करते
सपनों में भी सपने में रहते
और कई स्वप्नजीवी साथ इकट्ठे होते
और खूब मुस्कुराते
कि जैसे धता बता दी हो सच को
नासेह इन पर कड़ी नज़र रखे रहता

ये मुक्ति का अभ्यास करते
मार्च करते मुक्ति का
कि आपस में इकट्ठा होकर चाय-बिस्कुट चबाते
और उसमें मुक्ति का स्वाद पाते

इन्हें मुक्ति के विषय में
कुछ भी ठीक ठीक ज्ञात न था
सो अक्सर पूछा करते अपने नासेह से
नासेह भी ऊब चुकता था बार बार

उन्होंने सपना देखा
जिसमें कोई व्यवस्था नहीं थी
वे अपने को अव्यवस्था में व्यस्त पाते
और कुछ देर खुश रहते और उसका फोटो खिंचवाते
और अपने स्वप्न-कक्ष में सजाते
और आधी आधी रात को अकेले मुस्कुराते

महानगर की ओर जाता एक देहाती लडका

महानगर की ओर जाता एक देहाती लडका
चला जा रहा है अपनी इच्छा और उत्साह के साथ
कि जैसे, महान संगीतज्ञ की उच्च श्रेणी की कोई संगीत रचना
मंद्र स्वर में व्याप्त हो रहा हो अखिल ब्रह्माण्ड में...
ऐसा नहीं कि जिसे छोड़कर आया है पीछे, वह
भूख, लाचारी अशिक्षा या बीमारी हो
सामान्य सी बात है कि शून्य में नहीं उपजता है संगीत
फिर भी संगीत सुनना, संगीत समझना और संगीत बनाना
गहरे तौर पर भिन्न स्थितियाँ हैं
प्राकृतिक रूप से देखें तो
संगीत और लोकतंत्र तक तो सबकी पहुँच है
सब की इच्छाओं में शामिल है साम्य की संवेदनाएँ
किन्तु जब कोई सूत्रधार नचाता है रस्सी में लपेटकर
सहज ही नाचने लगता है लट्टू की तरह गोल गोल
वहीं का वहीं, जस का तस
और हाँफते हुए अपने कारनामों के बखान से
करता है अपने पड़ोसियों को त्रस्त
राजपथों पर बेवज़ह मत निकालो जुलूस
मत करो नाहक अवरुद्ध यातायात को
जाने दो उस छोटे से देहाती लड़के को महानगर
होने दो महान संगीत की रचना
और रखो धैर्य
यह उच्च श्रेणी का संगीत अंतत: जनतंत्र के पक्ष में होगा
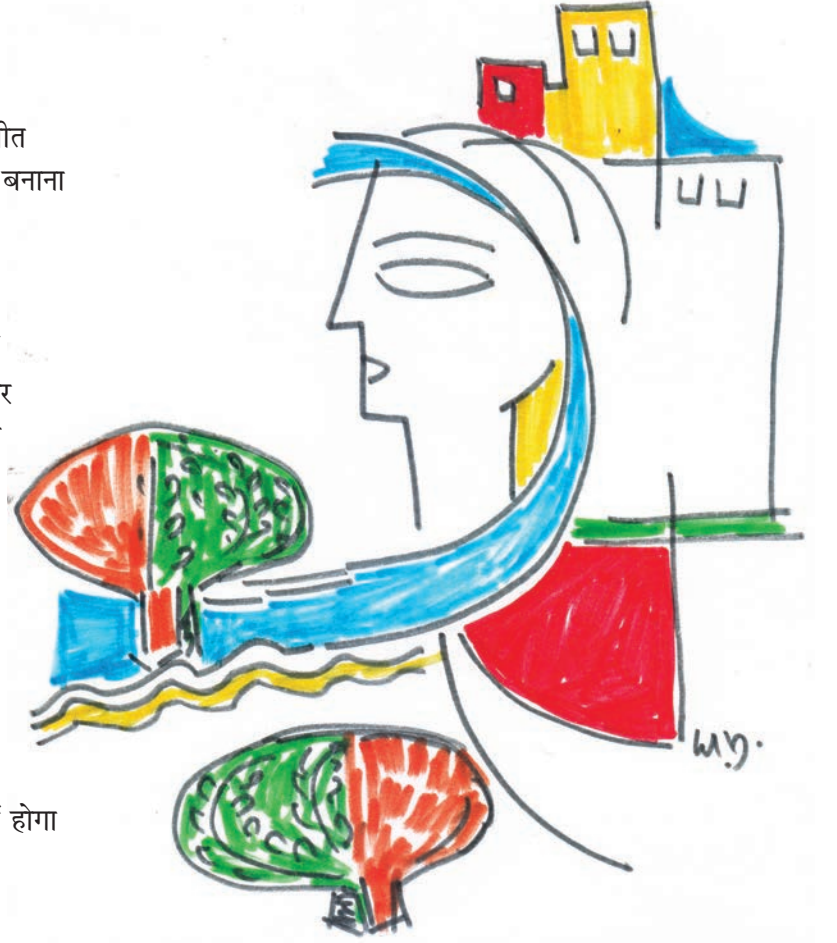
सम्पर्क–संस्कृत विभाग, राजधानी कॉलेज, दि.वि.,
राजा गार्डन, नई दिल्ली–110015
मोबाईल: 9810939131

युवा अभिव्यक्ति

प्रियंका सिंह की कविताएँ

सपनों के ओएसिस

मैं एक शहर में हूँ
मेरे भीतर भी एक शहर है
यह मुझे प्यार करता है
यह मुझसे नफरत भी करता है
यह मुझे अभय देता है
यह मुझे डराता भी है।

पर मैं डरती नहीं
डरना मेरी फितरत नहीं
चाहे कोई हो परिणाम
सपनों की यादों में रखकर
करना है बस मुझे प्रयाण।

सपने ही ऊर्जा देते हैं
जीने का मकसद देते हैं
लड़ने की हिम्मत देते हैं
पिता–सा हौसला हैं देते
माँ की तरह संयम देते हैं

जब भी उबर नहीं पाती हूँ
अपने अंतर्द्वंदों से
जब भी घेरे घनी उदासी
ये सपने ही हैं मेरे साथी
सपनों की हूँ मैं शरणार्थी
पुनः पुनः मैं लौट आती हूँ
पुनः पुनः मैं नवतर बनकर
उसी कोलाहल भरे शहर में
जिसने मेरा साहस छीना
जिसने मेरे सपने छीने।

मैंने सपनों के उपवन को
चाहा जी भर–भरकर सींचूँ
एक शहर से तूफान आया
उपवन मेरा हो गया बंजर
मेरे सपनों को सुखाते हुए
शहर बार–बार बनाता है
एक मरुस्थल
मैं बार–बार उग आती आती हूँ
अपने सपनों के दम पर
मरुस्थल में ओएसिस की तरह!!!

उम्र की दरार

नौकरी पाने की
एक उम्र होती है
आवेदन-पत्रों पर विचार करने का
एक समय होता है
जब उम्र बीत जाती है और
आवेदन पड़े रह जाते हैं
तो एक दूसरी उम्र शुरू होती है
दूसरा जीवन शुरू होता है।

उम्र होने से पहले ही
झुक जाती है कमर
दाढ़ी बढ़ी होती है
पढ़ाई बेकार लगती है
कोई सड़क नहीं दिखती
गन्तव्य तक जाती हुई
वे चलते हैं दरार पर
कि दरार और बढ़े और
धरती लील जाए उन्हें।

उनकी याददाश्त एक पुल है
दरार के किनारों के बीच
कभी-कभार कोई साथी
नज़र आता बैठा हुआ
कभी कोई घर
दिखता है अपना-सा।
वे जाते हैं
खटखटाते हैं पुराने बन्द दरवाजे
लेकिन कोई नहीं जो
लिपट जाए गले से
बिठा ले थोड़ी देर पास।

जब उम्र बीत जाती है
वे देखते हैं नये लड़कों को
जिनके हाथों में आवेदन हैं
वे सोचते हैं नये लड़कों को
और
दरार का पुल
दरकने लगता है।
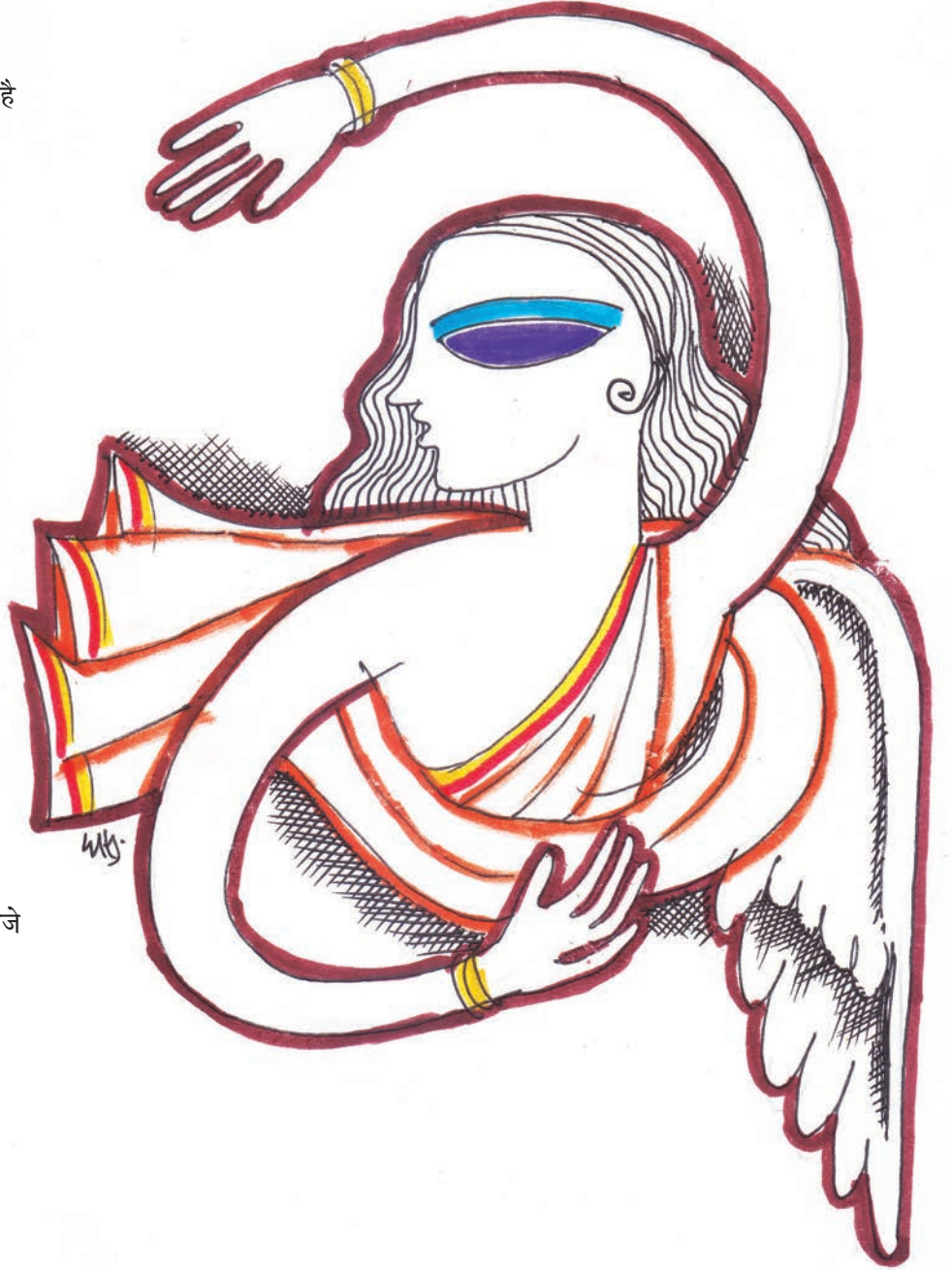
सम्पर्क–9891786209
singh.priyanka135@gmail.com

चित्रकारी

अस्मिता मिश्र
कक्षा – पाँच
अरावली इंटरनेशनल स्कूल,
फरीदाबाद, हरियाणा
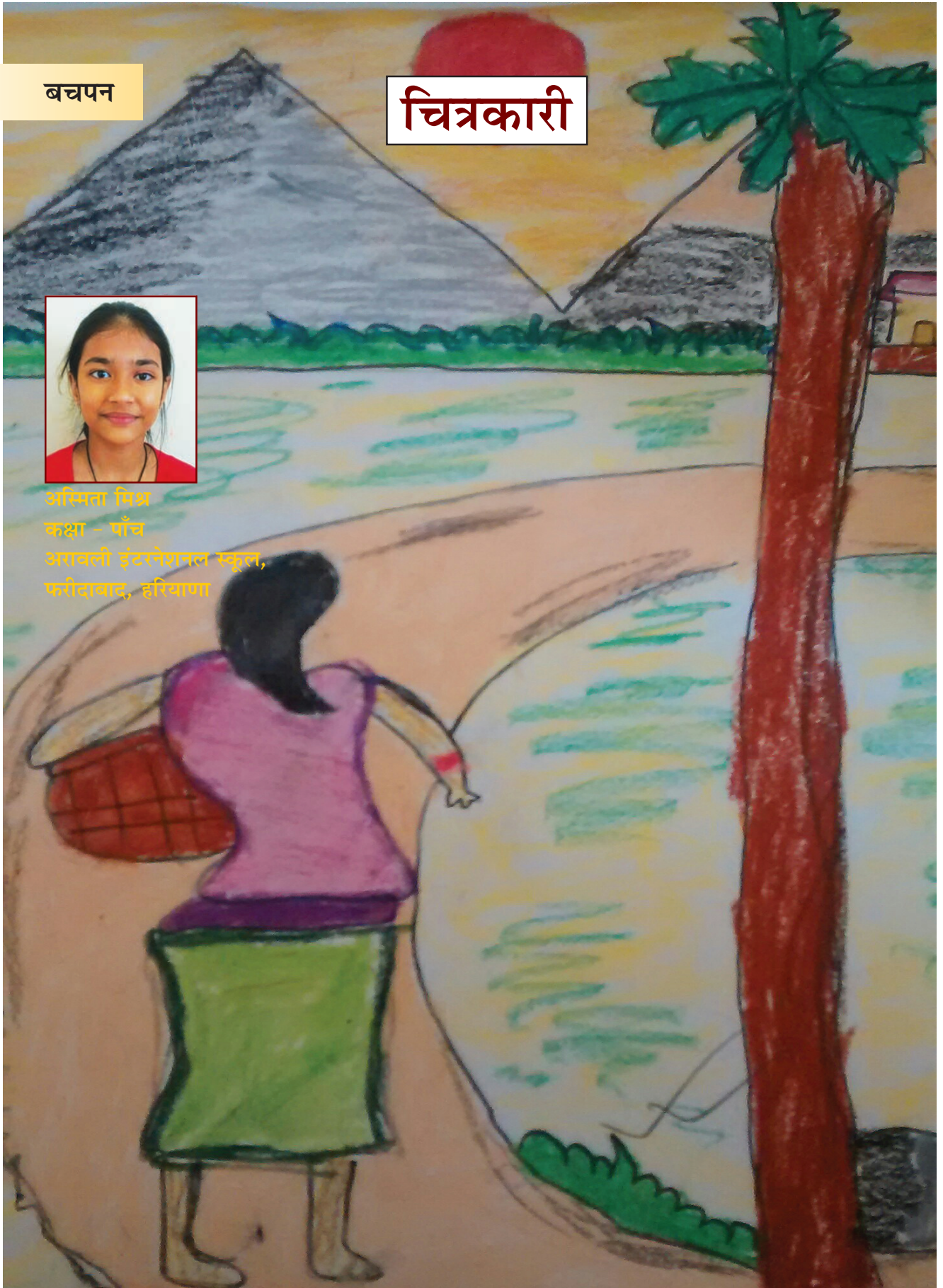
माँ की आँखें

यह वसन्तदेवजी का ही नहीं, पूरे कालीपुर का सम्मान था। जाने-माने लेखक और समाज-सुधारक वसन्तदेवजी को अपनी साहित्य-साधना के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार मिला, तो उनके स्वागत-समारोह में जनता टूट पड़ी। इतने लोग उन्हें सुनने आये थे कि सभा-कक्ष में चप्पा भर जमीन भी खाली नहीं थी। बहुत से लोग बाहर भी खड़े थे और उनकी बातें सुनने के लिए उत्सुक थे।

शुरू में सभा के संयोजक हरि भाई ने वसन्तदेवजी के व्यक्तित्व और उनके साहित्य का परिचय दिया। फिर कुछ बच्चों ने आकर उन्हें पुष्पमालाएँ पहनायीं, गुलदस्ता भेंट किया। वसन्तदेवजी के मित्रों और कुछ प्रसिद्ध साहित्यकारों ने उनसे जुड़े संस्मरण सुनाये। इसके बाद वसन्तदेवजी से कहा गया कि वे अपने पचास बरस लम्बे साहित्यिक सफर के बारे में कुछ कहें।

इस पर वसन्तदेव खड़े हुए तो उनकी आँखें भरी हुई थीं। बोले, ''माफ करें, इस मौके पर क्या कहूँ, क्या नहीं, मुझे तो कुछ सूझ नहीं रहा। हाँ, मुझे बस एक चीज याद है, मेरी माँ की वे डबडबायी आँखें! बस, वहीं से मुझे राह मिली। मैं तो एकदम आवारा लड़का था, पढ़ने-लिखने से मेरा वैर था। किताबें देखते ही दूर भागता था, पर मेरी माँ...!'' कहते-कहते वसन्तदेवजी रुके, जैसे उन्हें शब्द न मिल पा रहे हों। उनका स्वर कुछ भीग-सा गया था।

फिर कुछ सोचते हुए उन्होंने कहा, ''अच्छा तो सुनिए, मैं आपको एक कहानी सुनाता हूँ। सच्ची कहानी। एक शरारती बच्चे वसन्त की कहानी। अब यह बताने की तो जरूरत नहीं कि वह शरारती बच्चा कोई और नहीं, मैं ही था जो आज वसन्तदेव बना बैठा हूँ और जिसे आप जैसे लोगों का इतना प्यार मिल रहा है। तो ठीक है, सुनिए यह कहानी।''

सभा में इस कदर चुप्पी थी कि साँस की आवाज भी सुनाई देती थी। इधर वसन्तदेव की कहानी शुरू हो चुकी थी–

...कालीपुर के एक बड़े जमींदार का बेटा था वसन्त, इसीलिए मारे लाड़ के कुछ बिगड़ भी गया था। सारे दिन दोस्तों के साथ खेलकूद, तमाशे, आवारागर्दी। कहीं तोड़-फोड़, कहीं धींगामुश्ती। सुबह का गया कब घर लौटेगा, किसी को पता नहीं। कई बार वसन्त के पिता गदाधर बाबू इस बात से परेशान हो उठते। उन्हें यह चिन्ता खाये जा रही थी कि वसन्त अगर पढ़ेगा-लिखेगा नहीं, तो भला कालीपुर की इतनी लम्बी-चौड़ी जमींदारी कैसे सँभालेगा?

उन्होंने एकाध बार वसन्त को डाँटा, फटकारा और चेताया भी। पर हमेशा वसन्त की माँ सीतादेवी बीच में आ जाती थीं। वसन्त को छाती से लगाकर कहतीं, ''अभी तो खेलने-खाने और शरारतें करने के दिन हैं मेरे लाल के। अभी से इसे...!'' इस
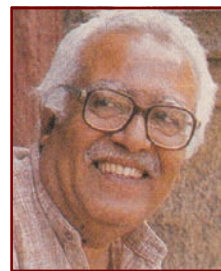
प्रकाश मनु

पर गदाधर बाबू भला क्या कहते! वे चुप हो जाते, पर अन्दर-ही-अन्दर घुलते जाते थे।

पर जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया, गदाधर बाबू की मुसीबतें भी बढ़ती गयीं। उनकी उम्र ढल रही थी और शरीर अब साथ नहीं देता था। उनका इकलौता बेटा था वसन्त, जिस पर उनकी सारी उम्मीदें टिकी थीं। सोचते थे, वसन्त लायक बनेगा और कुल का नाम ऊँचा करेगा। पर उसकी आदतों में जरा भी सुधार नहीं हुआ। उलटे बड़े होने के साथ उसकी आवारागर्दी बढ़ती गयी। अब तो माँ सीतादेवी भी परेशान थीं और कभी-कभी वसन्त को टोककर कहतीं, ''बेटे, जरा अपने पिता की भी चिन्ता कर। वे रात-दिन तेरे दुःख में घुलते जा रहे हैं।''

आखिर गदाधर बाबू बुरी तरह बीमार पड़ गये। चारपाई पर पड़े-पड़े सोचते, ''वसन्तदेव कुछ सयाना होता तो मुझे चिन्ता किस बात की थी? पर अब तो शायद मरकर ही चैन पड़े।'' और दुःख से जर्जर हो चुके गदाधर बाबू कुछ ही दिनों में चल बसे।

माँ सीतादेवी की हालत भी अब खराब थी। कई बार वे खुद को ही पति की मृत्यु के लिए जिम्मेदार ठहरातीं। सोचतीं कि आखिर मेरे ही कारण उनका दुःख बढ़ा। मुझे वसन्त को शुरू से ही समझाना चाहिए था।

अब तक वसन्तदेव के दोस्तों की अच्छी-खासी शैतान टोली बन गया था। उनका बस एक ही काम था। सुबह से शाम तक यहाँ-वहाँ शैतानियाँ और धींगामुश्ती। कभी-कभी तीतर लड़ाने का खेल चलता तो कभी दिन-भर पतंगबाजी। रोज पिकनिक मनती और उसके लिए न जाने किन-किन किसानों की फसलें बर्बाद हो जातीं। ढेर सारे फल-सब्जियाँ तोड़ ली जातीं। उनमें से जितनी खायी जातीं, उनसे ज्यादा बर्बाद होतीं। किसान शिकायत करने की बात करते, तो उलटे उन्हें धमकी मिल जाती। फिर भी सीतादेवी तक यह बात जैसे-तैसे पहुँच ही जाती और उनका दिल टूक-टूक हो जाता। सोचतीं, 'हाय, विधाता ने यह कैसे बेटा मुझे दिया, जिसने मेरा सारा सुख-चैन हर लिया!'' आखिर उन्होंने थोड़ी कड़ाई शुरू की। वसन्त को बुलाकर सीधे-सीधे कहा, ''अब तुम बड़े हो गये हो बेटे, मेरी सारी आशाएँ तुम पर टिकी हैं। तुम खेलो-घूमो, सब करो, पर पढ़ाई-लिखाई का भी खयाल करो।''

अब वसन्त को घर पर पढ़ाने के लिए एक बुजुर्ग अध्यापक सुधाकरजी भी आने लगे थे। सुधाकरजी बड़े गुणी और धैर्यवान अध्यापक थे। दूर-दूर तक उनका नाम था। लोग उनकी योग्यता का सम्मान करते। उनका सबसे बड़ा गुण तो यह था कि जो बच्चे पढ़ाई से जी चुराते थे, उन्हें भी वे इतने प्रेम से पढ़ाते कि धीरे-धीरे उन्हें भी पढ़ाई में रस आने लगता और वे लायक बन जाते।

सुधाकरजी ने सोचा था,वसन्त खासा बिगड़ा हुआ बच्चा है, फिर भी महीने-दो महीने में तो उसे राह पर ले ही आऊँगा। पर उन्हें नहीं पता था कि वसन्त घर बैठे या बाहर अपनी शैतान टोली का नेता बनाये यहाँ-वहाँ सींग भिड़ा रहा हो, उसका मन तो नयी-नयी शरारतें करने में ही लगता है।

यही वजह थी कि रोज शाम के समय सुधाकरजी पढ़ाने आते, तो वसन्त कभी घर के बाहर वाले बगीचे में छिप जाता, तो कभी छत पर जाकर परछत्ती पर रखे सामान के पीछे दुबक जाता। कभी किसी पेड़ की ऊँची डाली पर जा बैठता और उल्लुओं या तीतर जैसी आवाजें निकालने लगता। सुधाकरजी सब समझ जाते और वसन्त की शैतानियों पर मन-ही-मन हँसते। फिर उसे प्यार से फिर पढ़ाई की कोशिशों में जुट जाते।

एकाध बार तो यह भी हुआ कि जैसे ही सुधाकरजी पढ़ाने के लिए कमरे में आये, वसन्त झट चारपाई के नीचे जा दुबका। सुधाकरजी थोड़ी देर हैरानी से इधर-उधर देखते रहे, कि अरे, वसन्त कहाँ गायब हो गया? अभी तो थोड़ी देर पहले यहीं था। कहीं वह किसी खिड़की से तो नहीं कूद गया? तब उसके साँस लेने और खुदर-खुदर हँसने से पता चलता कि अरे, वह तो चारपाई के नीचे छिपा हुआ है। वसन्त की शरारतें रोज-रोज बढ़ती ही जातीं। आखिर एक दिन सुधाकरजी इतने परेशान हो गये कि बोले, ''अच्छा, रहने दो वसन्त। नहीं पढ़ना चाहते तो न सही, लेकिन कम-से-कम मुझे देखकर चारपाई के नीचे तो मत छिपो। यह मेरा ही नहीं, विद्या का भी अपमान है।''

वसन्त बोला, ''मास्टरजी, सच्ची कहूँ? पढ़ना मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। पर हाँ, अगर आप रोज कहानी सुनाएँ, तो मैं जरूर सुनूँगा।''

अब सुधाकरजी को नया तरीका मिल गया। उन्होंने सोचा, 'वसन्त को रोज नयी-नयी कहानियाँ सुनाऊँगा। कहानियों में ही कुछ ऐसी अच्छी बातें भी सिखा दूँगा कि धीरे-धीरे इसका मन पढ़ाई में लगने लगेगा।' इसके बाद तो यही होता कि रोज सुधाकरजी आते और एक-से-एक दिलचस्प कहानियाँ सुनाते। हर बार अपनी कहानी में वे कोई ऐसी बात बताते जो

जीवन में काम आती। एक बार उन्होंने आसमान के तारों की कहानी सुनायी तो सोचा कि इसी बहाने थोड़ा गणित का जोड़-बाकी भी सिखा दिया जाए। उन्होंने कहा, 'वसन्त, एक था पुनपुन। एक दिन उसने आसमान में देखा, दो तारे थे। थोड़ी देर बाद दो तारे और उग आये। वह सोचने लगा, अरे वाह, ये तो दो और दो यानी चार तारे हो गये।'

कहानी सुनते-सुनते वसन्त कुढ़कर बोला, ''मास्टरजी, यह तो आप गणित पढ़ा रहे हैं। मैं पढ़ूँगा नहीं, आप तो बस कहानी ही सुनाइए।'' और खिड़की से छलाँग लगाकर बाहर भाग गया।

इस पर सुधाकर बाबू इतने दु:खी हुए कि उसी दिन उन्होंने सीतादेवी के पास जाकर कहा, ''माफ कीजिए, मैं अपनी हार मानता हूँ। मैंने एक-से-एक बिगड़े बच्चों को सँभाला है और उनमें पढ़ने-लिखने की लौ पैदा की है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मुझे हार माननी पड़ी हो। पर वसन्त जैसा बच्चा मैंने कोई और देखा नहीं। मुझे नहीं लगता कि यह कभी सँभल पाएगा। अब आप मुझे इजाजत दीजिए, कल से मैं इसे पढ़ाने नहीं आऊँगा।''

कहते हुए सुधाकरजी के चेहरे पर इतनी पीड़ा थी कि सीतादेवी स्तब्ध रह गयीं। उनके मुँह से कोई बोल तक नहीं निकला।

पर तभी से खुद सीतादेवी की यह हालत हो गयी कि जैसे अन्दर-ही-अन्दर कोई घुन उन्हें खा रहा हो। उनकी हालत बिल्कुल बीमारों जैसी हो गयी। मुँह पीला पड़ गया। धीरे-धीरे शरीर सूखता हुआ, हड्डियों के ढाँचे में बदल गया।

वसन्त माँ की यह हालत देखता, पर अनदेखा कर देता। एक दिन शाम के समय वह बाहर से आया तो घर के पुराने नौकर रामदीन ने बताया कि बाबू, अम्माँ जी बुला रही हैं। वसन्त के हाथ-पैरों में मिट्टी लगी थी। आज कुश्ती लड़ने की प्रतियोगिता में उसने कई पहलवानों को पछाड़ा था। अगली बारी में लौटकर उसे कुछ और दाँव आजमाने थे। वह जल्दी से माँ के पास गया और बोला, ''अम्माँ, क्या बात है?''

सीतादेवी बहुत कुछ कहना चाहती थीं। वे सोच रही थीं, क्या कहूँ, क्या नहीं? पर वसन्त को जल्दी थी। उतावलेपन से बोला, ''जल्दी कहो न माँ, क्या बात है?''

सीतादेवी चुप, एकदम चुप। जैसे सारे शब्द चुक गये हों। वे अपलक बेटे को देखे जा रही थीं, जिसने उनकी सारी आशाओं को धूल-धूल कर दिया था। फिर भी यह नहीं समझ पा रहा था कि उसके कारण माँ कैसा पहाड़ जैसा

दु:ख झेल रही हैं। आखिर कुछ न कहा गया, तो उन्होंने बड़ी निरीह दृष्टि से वसन्त को देखा और रो पड़ीं। रोते-रोते बोलीं, ''अरे वसन्त, मेरे लाल, तू पढ़ता क्यों नहीं है बेटे? क्या तू बिल्कुल नहीं पढ़ेगा, कभी नहीं। तेरे पिता तो इसी चिन्ता में घुल-घुलकर मर गये। लगता है मैं भी...अब मैं भी नहीं बचूँगी। फिर याद करते रहना माँ को। बड़ा आया माँ का लाड़ला!'' कहते-कहते माँ की आँखों से धाराधार आँसू बहने लगे। इन दिनों चिन्ता-फिक्र के मारे वे इतनी कमजोर हो गयी थीं कि लगा, अभी बेहोश होकर गिर पड़ेंगी।

वसन्त को अब समझ में आया कि कितना बड़ा अनर्थ उससे हुआ है। माँ जिन्हें वह सबसे ज्यादा प्यार करता है, वे भी शायद उसे छोड़कर चली जाएँगी। और उसका सब कुछ नष्ट हो जाएगा, सब कुछ। उसकी हँसी-खुशी की सारी दुनिया भरभराकर गिर पड़ेगी।

''माँ-माँ, मैं पढ़ूँगा। माँ, मैं अब तुम्हें कभी शिकायत

का मौका नहीं दूँगा। मुझे माफ कर दो माँ!'' कहकर आगे बढ़कर उसने माँ को सहारा दिया। दुर्बल माँ की आँखों में एक क्षीण-सी चमक दिखाई पड़ी, जैसे वे धीरे से मुस्करायी हों। पर वे इतनी कमजोर हो गयी थीं कि एकाएक चारपाई पर गिर पड़ीं। उनकी साँस जोर-जोर से चल रही थी।

वसन्त ने जल्दी से दौड़कर माँ को पानी पिलाया और उनका माथा दबाने लगा। इतने में रामदीन दौड़कर वैद्यजी को बुला लाया। वैद्यजी ने आकर नब्ज देखी। फिर दवा देकर कहा, ''कोई गहरा सदमा लगा है इन्हें। खुश रहेंगी और ठीक से खाने-पीने लगेंगी, तो ठीक हो जाएँगी। पर अभी इन्हें दो-तीन महीने सेवा की बड़ी जरूरत है वसन्त बेटे।''

अब तो वसन्त का एक ही काम था। माँ की इच्छा को दौड़-दौड़कर पूरा करना। कभी उन्हें दवा पिला रहा है, कभी उन्हें खुद अपने हाथ से काटकर फल खिलाकर रहा है, कभी उनके मन बहलाव के लिए बातें कर रहा है। माँ कुछ ठीक हुईं, तो वसन्त ने कहा, ''माँ-माँ, मैं सुधाकरजी के घर जाऊँ? उनसे जाकर माफी माँगूँगा।''

उसी दिन वसन्त सुधाकरजी के घर पहुँचा। और जैसे ही सुधाकरजी घर से बाहर आये, वह उनके पैरों पर गिर पड़ा। बोला, ''क्षमा करें गुरुजी, मैं अब पढ़ूँगा। आपको कोई शिकायत का मौका नहीं दूँगा। आप पहले की तरह पढ़ाने के लिए मेरे घर आएँ। अगर मेरा कोई भी व्यवहार आपको बुरा लगे, तो आप चाहे जो सजा दें।''

सुधाकर जी हैरान—अरे, क्या यही वह वसन्त है जिसके बारे में उन्होंने कहा था कि कभी सँभल नहीं पाएगा!

अगले दिन सुधाकरजी वसन्त को पढ़ाने घर आये तो वसन्त तो खुश था ही, उसकी माँ सीतादेवी उससे भी अधिक खुश थीं। और खुद सुधाकर बाबू! वे तो जैसे अचम्भे में थे कि यह जादू हुआ कैसे? पर सुधाकरजी जब वसन्त को पढ़ाने बैठे, तो समझ गये कि यह वह पहले वाला वसन्त हरगिज नहीं। उनके सामने तो एक अलग ही वसन्त बैठा हुआ है, जिसमें पढ़ने की बड़ी गहरी ललक है।

सुधाकरजी ने पढ़ाना शुरू किया तो समझ गये कि वसन्त शरारती भले ही हो, बुद्धू हरगिज नहीं है। सुधाकरजी जो कुछ बताते, उसे वह एक बार में ही इस कदर दिल में बैठा लेता कि फिर उसे दोबारा पढ़ने की जरूरत ही न होती। फिर साहित्य, कला और इतिहास की तो इसे अच्छी-खासी जानकारी भी थी। हाँ, गणित और विज्ञान में वह ज्यादा होशियार नहीं था। पर सुधाकरजी विज्ञान को भी रोचक कथाओं की शक्ल में सुनाते। बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक खोजें कैसे हुईं और उसके लिए वैज्ञानिकों ने कितनी तकलीफें सहीं। यह सब सुनकर वसन्त रोमांचित हो उठता और उसके मन में भी कुछ नया करने और कुछ बनने की ललक पैदा होती।

इसी तरह सुधाकरजी गणित को भी रोचक शैली में, छोटे-छोटे सवालों और मजेदार पहेलियों के रूप में उसके सामने रखते, तो वसन्त को बड़ा मजा आता। झटपट इन सवालों का जवाब देते-देते उसका दिमाग इतना तेज हो गया

कि गणित के बड़े-बड़े सवालों को भी वह मुँहजुबानी हल कर देता।

कुछ समय बाद सुधाकरजी ने सीतादेवी को सलाह दी कि अब वसन्त का स्कूल में नाम लिखवा दिया जाए। शुरू में वसन्त को इस पर झेंप आयी। उसकी उम्र काफी अधिक हो गयी थी। इस उम्र में छोटे-छोटे बच्चों के साथ पढ़ना उसे शर्म की बात लगती थी। पर फिर उसने सोचा, 'अगर स्कूल में जाकर ज्ञान मिलता है, तो फिर इस बात की ज्यादा परवाह क्यों की जाए?'

और वाकई यही हुआ। शुरू में बच्चे अपने से काफी बड़ी उम्र के वसन्त को अपने बीच बैठा हुआ देखकर हँसते। पर फिर धीरे-धीरे वसन्त के व्यक्तित्व का ऐसा असर पड़ा कि सभी उसका आदर करने लगे। यहाँ तक कि बच्चों को जो भी मुश्किल आती, उसके बारे में वे अकसर वसन्त से ही पूछ लेते। इससे वसन्त की अच्छी-खासी धाक जम गयी थी।

इसके बाद स्कूल के सालाना जलसे में कविता सुनाने और नाटक का प्रोग्राम हुआ, तो वसन्त की प्रतिभा का कमाल सबने देखा। वह हर काम में सबसे अव्वल था। और खासकर उसका नाटक तो ऐसा जमा कि हर घड़ी लोग ठहाके लगाते। उसकी कविताओं को भी लोगों ने सराहा। उनमें देश और समय की पुकार थी और जनता का सच्चा दर्द था।

एक बार स्कूल में एक बड़े स्वाधीनता सेनानी देवधरजी को आना था। प्रधानाचार्य ने वसन्त को बुलाकर कहा, ''इस मौके पर तुम कोई अच्छा-सा नाटक दिखाओ।''

वसन्त 'हाँ' कहकर घर चला आया और सोचने लगा कि आखिर कौन-सा नाटक दिखाया जाए? काफी सोचकर उसने खुद ही एक नाटक लिखा, जिसका नाम था, 'माँ की आँखें'। इसमें वसन्त ने नाटक के रूप में अपनी ही कहानी लिख दी थी। कहानी का नायक एक ऐसा आवारा किस्म का बच्चा था, जो इतना बिगड़ा हुआ था कि उसके कारण पूरा घर परेशान था। पिता गुजर गये, माँ भी बदहाल थीं। अच्छी-खासी जमींदारी बर्बादी के कगार पर आ गयी, पर उस आवारा लड़के को परवाह ही नहीं थी। एक दिन रोती हुई माँ की आँखों में उसने ऐसी करुणा देखी कि वह दहल गया। उन आँखों ने ही उसे भटकाव से बचाकर रास्ता बता दिया। वह बच्चा बड़ा होकर लेखक बना, पर जीवन-भर माँ की उन आँखों को नहीं भूल पाया।

सचमुच बड़ा करुण नाटक लिखा था वसन्त ने। जिसने भी देखा, उसकी आँखें नम हो गयीं। खुद देवधरजी ने उठकर वसन्त के सिर पर हाथ फेरा और उसे बड़ा होकर नामी लेखक होने का आशीर्वाद दिया।

...कहते-कहते वसन्तदेव एक पल के लिए रुके। फिर बोले, ''तो साहिबान, यही मेरा पहला नाटक था। मेरी पहली रचना, 'माँ की आँखें' और यही मेरे लिखने की शुरुआत थी। सचमुच माँ की आँखें ही थीं जिन्होंने मुझे जीवन का सही अर्थ बताया और सही राह दिखा दी। माँ ही मेरी सच्ची गुरु थीं, जिन्होंने मेरे मन के अन्धकार को दूर करके ज्ञान का पहला दीया जलाया। उसके बाद तो मैं लिखता गया और बढ़ता गया। धीरे-धीरे मेरी किताबें छपीं, बड़ा नाम हुआ, बड़े पुरस्कार मिले। और आज मुझे वह राष्ट्रीय पुरस्कार मिला, कि आप सब मेरा सम्मान करने के लिए यहाँ आये। पर यह सब कुछ न होता... कतई न होता, अगर उस दिन माँ की आँखों ने मुझे जीवन का सच्चा पाठ न पढ़ाया होता। वे आज भी मेरे भीतर जस-की-तस गड़ी हुई हैं। लिहाजा इस पुरस्कार पर मेरा नहीं, मेरी माँ का हक है जो चाहे अनपढ़ सही, पर मुझसे ज्यादा जिन्होंने जीवन के मर्म को समझा है। यह पुरस्कार मैं अपनी उन्हीं माँ को समर्पित करता हूँ जिनके कारण एक बिगड़ा हुआ बच्चा वसन्त आखिर आप सबका लाड़ला वसन्तदेव बन गया।''

कहकर वसन्तदेव उठे और सभा की अगली कतार में बैठी अस्सी बरस की बूढ़ी माँ सीतादेवी की झोली में मानपत्र रख दिया। बोले, ''माँ, तुमने उस दिन रोते-रोते कहा था न कि बेटा, तू पढ़ता क्यों नहीं है? मैं कभी तेरी वे डबडबायी आँखें नहीं भूल पाया और आज तक जो कुछ मैंने लिखा, उसके पीछे तेरी उन्हीं आँखों का गहरा दर्द है।'' कहते-कहते उन्होंने माँ के चरणों की धूल सिर पर लगा ली।

सीतादेवी की आँखों में उस समय अनोखी चमक थी। उन्होंने बड़े प्यार से बेटे के सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया।

कुछ ही देर में वसन्तदेव उन्हें सहारा देकर सभा से बाहर ले जा रहे थे। और सारी सभा आदर से भरकर अपलक उन्हें देख रही थी।

सम्पर्क–545, सेक्टर-29, फरीदाबाद,
हरियाणा-121008
मो. 9810602327

पोरबन्दर

पंकज चौबे

पोरबन्दर में दीवान करमचन्द गांधी और पुतलीबाई के घर 2 अक्टूबर 1869 ई० को एक बालक ने जन्म लिया। उस समय कौन जानता था कि भविष्य में इसी बालक को न केवल समूचा भारत अपना राष्ट्रपिता मानकर अपनाएगा, बल्कि पूरी दुनिया उसे शान्ति, अहिंसा और मानवता का दूत मानकर स्वीकार करेगी। आज दुनिया का शायद ही कोई देश हो जहाँ किसी न किसी रूप में गांधीजी की चर्चा न हो। जैसे-जैसे आधुनिकता का संकट बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे गांधीजी नये सन्दर्भों में प्रासंगिक और स्वीकार्य होते जा रहे हैं।

पोरबन्दर वह पहली जगह है जहाँ से गांधीजी के जीवन की यात्रा शुरू हुई। गुजरात का यह कस्बा काठियावाड़ प्रायद्वीप पर स्थित है। यह प्रायद्वीप कच्छ का रण तथा खम्भात की खाड़ी

के बीच में पड़ता है। यह एक तरफ से अरब सागर से घिरा हुआ है। सागर तट पर स्थित होने के कारण प्राचीन काल से व्यापार का प्रमुख केन्द्र रहा है। 10वीं शताब्दी में पोरबन्दर को पौरावेलाकुल कहा जाता था। तब यह एक पिछड़ा हुआ क्षेत्र था। सदियों तक यह हमलावरों का रण क्षेत्र भी रहा। मिथकों की मानें तो पोरबन्दर श्री कृष्ण के मित्र सुदामा की जन्म स्थली थी इस कारण इसे सुदामापुरी भी कहा जाता था। 16वीं शताब्दी के आसपास यह जेठवा राजपूतों के नियन्त्रण में रहा और कालान्तर में इसे ब्रिटिशों ने इसको अपने अधीन कर लिया।

गांधीजी के दादाजी उत्तमचन्द पोरबन्दर राणा के दीवान थे। उत्तमचन्द के बाद उनके बेटे करमचन्द यहाँ के दीवान बने जो गांधीजी के पिता थे। गांधीजी के पिता को साधारण शिक्षा प्राप्त हुई थी। लेकिन वे सत्यप्रिय, व्यावहारिक और निष्ठावान व्यक्ति थे, जिसका प्रभाव गांधीजी पर पड़ा। लेकिन

गांधीजी ने स्वीकार किया है कि उन पर माता पुतलीबाई का विशेष प्रभाव था। गांधीजी को उनकी माँ बचपन में 'मुनिया' बुलाती थी। वैसे गांधीजी का पूरा नाम 'मोहनदास करमचन्द गांधी' है।

मोहनदास की माँ धार्मिक और निष्ठावान प्रकृति की महिला

थी। पूजा-पाठ, व्रत के नियम का कड़ाई से पालन करती थीं। इन सबका असर मोहनदास के कच्चे मन पर पड़ा। गांधीजी ने स्वीकार किया है कि 'मेरे अन्दर जो भी शुद्धता दिखाई देती हो वह मैंने अपने पिता से नहीं, अपनी माता से पायी है।'

मोहनदास बचपन में साधारण बच्चों की तरह ही थे।

चंचल स्वभाव के थे। इनकी देखभाल के लिए रम्भा नाम की दाई को रखा गया। मोहनदास घर में सबसे छोटे थे। इनसे बड़े दो भाई थे— काला और कासानिया। एक बड़ी बहन भी थी इलियात। घर में सबसे छोटे होने की वजह से मोहनदास को सब बहुत प्यार करते थे। स्वभाव से बहुत सौम्य थे। इनके अन्दर मानवीय करुणा बालपन से थी। जैसा आमतौर पर बच्चों में होता ही है। मोदनदास के घर साफ-सफाई के लिए एक लड़का आता था जिसका नाम ऊका था। मोहनदास से उम्र में वह थोड़ा बड़ा रहा होगा। सीधा-सच्चा लड़का था ऊका। सुबह-सुबह मोहनदास के घर में चुपचाप साफ-सफाई का काम करता रहता। मोहनदास उसको देखते रहते। बाल स्वभाव के कारण मोहन उससे कुछ बोलता, पर ऊका सिर्फ मुस्कराकर जवाब देता। मोहनदास ऊका के आगे-पीछे करते रहते। इनकी इच्छा होती ऊका उससे बात करे। मोहन, ऊका के काम को बहुत गौर से देखता। घर-आँगन से लेकर संडास को बिल्कुल चमका देता। उस समय के समाज में छूत-अछूत की धारणा व्याप्त थी। चूँकि साफ-सफाई का काम अछूत वर्ग ही करता आया था, अछूतों से छू तक जाने पर लोग अपने को अपवित्र मानते और तत्काल जाकर नहा लेते। इस तरह के वातावरण में मोहनदास पल-बढ़ रहे थे। चूँकि मोहनदास के मन में बचपन से ही करुणा, मानवता और प्रेम का भाव था। मोहनदास एक बार उसके साथ खेलने लगे। घर के लोगों ने देख लिया। माँ बहुत बिगड़ी और बाल्टी भर पानी से नहला दिया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि वह अछूत जाति का था। घर वालों के इस व्यवहार से मोहनदास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और ऊका के साथ खेलने-कूदने और घूमने-फिरने का क्रम जारी रहा।

मोहनदास का पोरबन्दर के प्रारम्भिक विद्यालय में दाखिला कराया गया। लेकिन कामकाज के सिलसिले में पिताजी को राजकोट जाना पड़ा। जिससे पूरा परिवार राजकोट आ गया। राजकोट काठियावाड़ की ही छोटी-सी रियासत था। अब राजकोट के प्राथमिक विद्यालय में दाखिला हुआ। ग्यारह-बारह वर्ष की उम्र में मोहनदास इंग्लिश माध्यम के 'अल्फ्रेड हाई स्कूल' में दाखिल हुआ। इस स्कूल में दाखिला प्रवेश-परीक्षा द्वारा होता था। सत्रह विद्यार्थियों ने प्रवेश-परीक्षा दी जिनमें नौ विद्यार्थी ही प्रवेश पा सके थे।

अँग्रेजी माध्यम के इस स्कूल में पढ़ने की वजह से मोहनदास धीरे-धीरे अकेले पड़ते गये। क्योंकि घर में गुजराती भाषा का माहौल था। स्कूल की वेश-भूषा आचार-व्यवहार सब कुछ बदलने लगा। इससे मोहनदास की असहज स्थिति बनने लगी।

बारह वर्ष की अवस्था में मोहनदास ने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक देखा जिसका प्रभाव गहरा उनके मन पर पड़ा। आगे स्कूल में पढ़ने के दौरान उन्होंने सिगरेट भी पिया, मांस खाया, चोरी भी की। इन सबका असर उनके मन पर हुआ। उन्हें अपराध बोध महसूस हुआ और उन्होंने अपनी हर गलती से सीख ली। एक बार की हुई गलती को आगे अपने जीवन में कभी नहीं दुहराया।
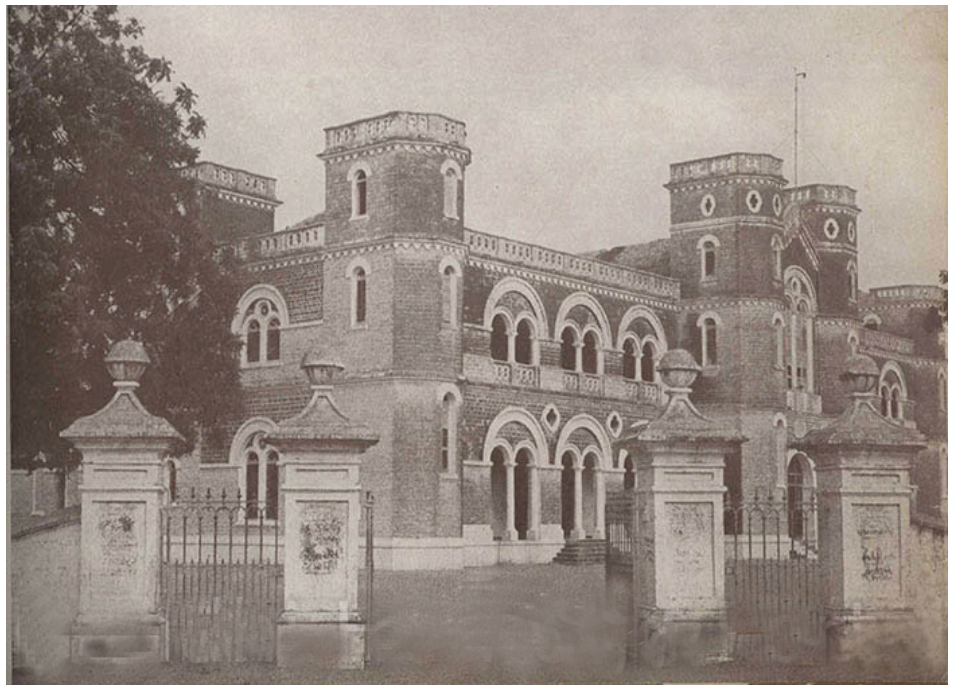
अल्फ्रेड हाईस्कूल, राजकोट

सम्पर्क—मो. 9968875235

अधूरे भाषण की याद में–VI

डॉ. राजीव रंजन गिरि

आचार्य कृपलानी ने गांधी–शख्सियत को बिल्कुल ठीक उकेरा है। उनकी शक्ति के बारे में सर्वथा उचित आकलन पेश किया है। क्या है– गांधी–शक्ति? जे.बी. कृपलानी ने इस गूढ़ प्रतीत होने वाले प्रश्न का सहज उत्तर दिया है। वह है– जो काम अपने कंधे पर लिया है, या तो उसे अंत तक पहुँचाना या अपना अन्त कर देना। जो दायित्व स्वीकारा है, उसके प्रति पूर्णत: कटिबद्ध होना। उसे लेकर कोई शुबहा नहीं। काम की राह में कठिनाई आने पर पलायन नहीं। बहुतेरों को यह गांधी–मार्ग रास नहीं आता। कारण कि इसमें वचनबद्धता के बाद उसे पूर्णता तक पहुँचाने के अलावा कोई चारा नहीं। भले ही खुद का अंत करना पड़े। आचार्य कृपलानी ने गांधी की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता बताई है– सच्चाई। यही गांधी की मजबूती है। इन दोनों खूबियों को परिभाषित करने वाले आचार्य कृपलानी का आरम्भिक दौर में गांधी की अहिंसक विचारधारा में यकीन नहीं था। गांधीजी थे परम अहिंसावादी जबकि आचार्य कृपलानी हिंसा में पूरा भरोसा रखते थे। विचारों का विपर्यय इतना ही नहीं था। गांधीजी ब्रिटिश राज के प्रति श्रद्धा–भाव वाले थे; जबकि कृपलानी जी की पुष्ट धारणा थी कि बगैर अँग्रेजी राज का उच्छेद किये, हिन्दुस्तान का भला होने वाला नहीं। गांधी की शख्सियत की व्याख्या करते हुए आचार्य कृपलानी ने यह भी कहा है कि आज वे अहिंसा का समर्थन करते हैं, परन्तु जिस क्षण उनको यह समझ में आएगा कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है, उसी समय वे हिंसा के रास्ते पर चलकर ऐसी उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं लड़ेगा। गांधी के चरित्र में निहित इसी मूल्य ने आचार्य कृपलानी को अपनी तरफ आकृष्ट किया। पर खुद को न्योछावर कर देना। प्राणपण से अपनी मान्यताओं के पथ पर चलना। भले ही उस पर चलते हुए जीवन का उत्सर्ग करना पड़े।

सवाल यह पैदा होता है कि गांधीजी को अगर समझ में आता कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है और वे हिंसा की राह अपनाते तो क्या इसे पलायन कहा जाता? जवाब होगा– नहीं। कारण कि यह न तो किसी सुविधा के लिए होता और न ही किसी वैचारिक ढुलमुनपन अथवा दुविधा के कारण। आचार्य कृपलानी ने इस काल्पनिक स्थिति के लिए भी कहा है कि ऐसी परिस्थिति में गांधीजी जिस उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं। यहाँ भी वे स्वयं के उत्सर्ग के लिए तैयार रहते। यहाँ नोट करने लायक है– गांधी–भावना। गांधी अगर अहिंसा से हिंसा की राह पर जाते तो यह भी सत्य के प्रयोग का एक पड़ाव ही बनता। उनका समूचा जीवन सत्य तक पहुँचने का प्रयोग था। बहरहाल ऐसी कल्पना करने वाले आचार्य कृपलानी ने पूरी साफगोई से कहा है कि बापू को हिंसा से डिगा देना, विचलित करना, एकदम असम्भव है। गांधी का समूचा जीवन अहिंसा के प्रयोगों का पर्याय था। ये तमाम प्रयोग देश व दुनिया के कल्याण के लिए थे। इसमें पूरी मानवता की चिन्ता थी। एक नयी सभ्यता गढ़ने की अकुलाहट का परिणाम थे ये सारे प्रयोग। इसमें किसी के शोषण के लिए गुँजाइश नहीं थी। यही वजह है, जैसा आचार्य कृपलानी ने भी बताया है कि जिस क्षण गांधी ने समझा ब्रिटिश राज देश के कल्याण के लिए नहीं है, उसी समय उन्होंने उसके लिए ऐसे कठोर विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जैसे लोकमान्य तिलक भी नहीं कर पाये थे। गांधीजी ने ब्रिटिश शासन को शैतानी राज्य कहा और वह भी इतने जोर से कि फिर तो पूरा देश उसको शैतान कहने लगा। ब्रिटिश शासन के प्रति श्रद्धा रखनेवाले गांधी उसे शैतान कहने लगे। इतनी मजबूती से कहने लगे कि देशभर ने इस पर भरोसा किया; रंचमात्र भी संदेह न कर ब्रिटिश हुकूमत को शैतान कहा।

गांधीजी और आचार्य कृपलानी ने विचारों में वैषम्य दिखता था। लिहाजा लोगों के जेहन में यह सवाल पैदा होना स्वाभावित था। आचार्य जे.बी. कृपलानी की शख्सियत से वाकिफ लोग समझ नहीं पा रहे थे निहायत विपरीत विचार वाले व्यक्ति को नेतृत्व इन्होंने क्यों माना है? इसका जवाब देते हुए कृपलानीजी ने गांधीजी की ताकत की चर्चा की है। यही ताकत उन्हें श्रेष्ठ साबित करती थी। इसी ने कृपलानी जी को प्रेरित किया कि वे गांधीजी को अपना नेता मानें।

(जारी)

सम्पर्क – rajiv.giri19@gmail.com

‘अंतिम जन’ के प्रसार में सहायक बनें

हमें तलाश है ऐसे साथियों/वितरकों/दुकानदारों की, जो ‘अंतिम जन’ के प्रसार में सहायक बनें। ऐसे साथी/वितरक/दुकानदार, जो अंतिम जन का पाठक बनाएंगे तथा पत्रिका बेचेंगे, उन्हें गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति उचित कमीशन देगी।

इच्छुक व्यक्ति/संस्थान पत्रिका तथा सदस्यता प्रोफार्मा मँगवाने के लिए संपर्क करें :

प्रधान संपादक

‘अंतिम जन’ मासिक पत्रिका

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली–110002

दूरभाष : 011–23392709, 23302710 फैक्स : 011–23302706,

ई–मेल : antimjangsds@gmail.com, 2010gsds@gmail.com

‘अंतिम जन’ की सदस्यता लें

इच्छुक व्यक्ति/संस्थान कृपया नीचे दिये गये प्रोफॉर्मा को भरकर (शुल्क) राशि (चेक/ड्राफ्ट) सहित निम्नलिखित पते पर भेजें :

प्रधान संपादक

‘अंतिम जन’ मासिक पत्रिका

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110002

आप हमसे संपर्क कर सकते हैं :-

दूरभाष : 011-23392709, 23302710 फैक्स : 011-23302706,

ई-मेल : antimjangsds@gmail.com, 2010gsds@gmail.com

‘अंतिम जन’ मासिक पत्रिका

(सदस्यता प्रपत्र)

मैं गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति द्वारा प्रकाशित अंतिम जन मासिक पत्रिका (हिन्दी), का/की पाठक-सदस्य .... वर्ष / वर्षों के लिए बनना चाहता / चाहती हूँ।

	वर्ष	रुपये
[ ]	एक प्रति शुल्क	10/-
[ ]	सालाना	100/-
[ ]	दो साल	200/-
[ ]	पाँच साल	400/-

.... बैंक चेक संख्या / डिमान्ड ड्राफ्ट संख्या .... दिनांक ....

राशि .... Director, Gandhi Smriti & Darshan Samiti, New Delhi में देय, संलग्न है।

सदस्य का नाम (स्पष्ट अक्षरों में) : ....

व्यवसाय : ....

संस्थान : ....

पता : ....

....

पिन कोड : ....

राज्य : ....

दूरभाष (कार्यालय) .... निवास .... मोबाइल ....

ई मेल : ....

हस्ताक्षर ....

नोट :- सभी भुगतान चेक (स्थानीय)/डिमान्ड ड्राफ्ट द्वारा Director, Gandhi Smriti & Darshan Samiti, New Delhi के नाम से, नई दिल्ली में, देय होने चाहिये।